सुमित्रानन्दन पंत

चिदंबरा

भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित

चिदंबरा

सुमित्रानन्दन पंत

राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली पटना

मूल्य : रु. 225.00

© सुमित्रा पंत

प्रथम संस्करण : 1958
पाँचवाँ संस्करण : 1986
आवृत्ति : 1998

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.
1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग
नई दिल्ली-110 002

मुद्रक : बालाजी ऑफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

CHIDAMBARA
Poems by Sumitranandan Pant

ISBN : 81-7178-641-3

ग्रन्थ-क्रम

युगवाणी	(१९३७-३८)	३७-६४
ग्राम्या	(१९३९-४०)	६५-१०१
स्वर्णकिरण	(१९४४-४५)	१०२-१५१
स्वर्णधूलि	(१९४६-४७)	१५२-१८३
युगपथ	(१९४८-४९)	१८४-२००
उत्तरा	(१९४९)	२०१-२३२
रजतशिखर	(१९५१)	२३३-२५४
शिल्पी	(१९५२)	२५५-२६७
सौवर्ण	(१९५४)	२६८-२८०
अतिमा	(१९५४)	२८१-३१५
वाणी	(१९५७)	३१६-३४७
पंक्ति-सूची		३४९-३५४

नए भुवन का जन्म हुआ अब
जो [illegible] अगोचर,
विश्व ध्वंस बल से रखता जो
अंतः रचना शक्ति महत्तर !
अशुभ असुर से अतिशय शुभ वह,
विजयी होगी ज्योति तमस पर,
मर्त्यलोक को नव जीवन का
मिला स्वर्ण संजीवन निर्जर !

चरण चिह्न

'चिदंबरा' को पाठकों के सम्मुख रखने से पहले उस पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेने की इच्छा होती है। इस परिदर्शन में, अपने विगत कृतित्व को, आलोचक की दृष्टि से देखने की अनधिकार चेष्टा नहीं करना चाहता; युग की मुख्य प्रवृत्तियों से मेरा काव्य किस प्रकार संबद्ध रहा, उस ओर, संक्षेप में, ध्यान भर आकृष्ट कर देना पर्याप्त समझता हूँ।

मेरी प्रथम उत्थान की रचनाओं की चयनिका थी, जिसमें 'वीणा', 'ग्रंथि', 'पल्लव', 'गुंजन', 'ज्योत्स्ना' तथा 'युगांत' की विशिष्ट कविताएं संकलित हैं। इस संचरण के कृतित्व के प्रति मेरे आलोचक प्रायः कृपालु और उदार रहे हैं, संभवतः, इसलिए कि इस उत्थान के कृतित्व ने छायावाद के बहिरंग को सँवारने तथा उसे कोमल कांत कलेवर की शोभा प्रदान करने के प्रयत्न में हाथ बँटाया है।

छायावाद की सार्थकता, मेरी दृष्टि में, उस युग के विशिष्ट भावनात्मक दृष्टिकोण तक ही सीमित है, जो भारतीय जागरण की चेतना का सर्वात्मवाद-मूलक कैशोर समारंभ भर था; उस युग की कविता में और भी अनेक प्रकार के अभिव्यंजना के तत्त्व, तथा रूप-शिल्प की विशेषताओं के व्यापक उपकरण हैं, जो खड़ी बोली के गद्य-पद्य के लिए स्थायी देन के रूप में रहेंगे। मेरी रचनाओं में वह भावनात्मक दृष्टिकोण, अधिकतर, 'वीणा' में तथा 'पल्लव' की कुछ रचनाओं में मिलता है; मेरा तब का काव्य मुख्यतः प्रकृति काव्य है। 'ग्रंथि', 'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना' में छायावादी दृष्टिकोण प्रायः उनके रूपविधान तक ही सीमित है; 'युगांत' में विधान-शिल्प में भी मौलिक रूपांतर के चिह्न प्रकट होते हैं। कुछ आलोचकों का कहना है कि 'युगवाणी-ग्राम्या' के बाद, 'स्वर्ण-किरण', 'उत्तरा' की रचनाओं में, मैं फिर छायावादी शैली में लौट आया हूँ, जिससे मैं सहमत नहीं। छायावादी शैली में भाव और रूप अन्योन्याश्रित होकर शब्द की चित्रात्मकता में प्रस्फुटित होते हैं। मेरे उत्तर काव्य में स्वतः चेतना या प्रेरणा अपनी अतिशयता में रूपविधान को अतिक्रम करती रही है, जो मेरा व्यक्तिगत अनुभव है। 'स्वर्ण किरण', 'उत्तरा' तथा 'अतिमा' की शब्द-योजना में प्रस्फुटन में अधिक परिणति है।

'चिदंबरा' मेरी काव्य-चेतना के द्वितीय उत्थान की परिचायिका है, उसमें 'युगवाणी' से लेकर 'अतिमा' तक की रचनाओं का संचयन है, जिसमें 'युगवाणी',

'गाथा' तथा 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्ण धूलि', 'युग पथ' के अंतर्गत 'युगांतर', 'उत्तरा', 'रजत शिखर', 'शिल्पी', 'सौवर्ण' अथवा 'अतिमा' की चुनी हुई कृतियों के साथ 'वाणी' की अंतिम रचना 'आत्मिका' भी सम्मिलित है। 'पल्लविनी' में, सन् १८ से लेकर' ३६ तक, मेरे उन्नीस वर्षों के कृतित्व के पदचिह्न हैं, और 'सिंदूरा' में, सन्' ३७ से' ५७ तक, प्रायः बीस वर्षों की विकास-श्रेणी का विस्तार। मेरी द्वितीय उत्थान की रचनाएँ, जिनमें युग की, भौतिक आध्यात्मिक दोनों चरणों की, प्रगति की बातें ध्वनित हैं, समय-समय पर विशेष रूप से, कटु आलोचनाओं एवं आक्षेपों की लक्ष्य रही हैं। ये आलोचनाएँ, प्रकारांतर से, उस युग के साहित्यिक मूल्यों तथा रूप-शिल्प संबंधी संघर्षों तथा द्वन्द्वों की निदर्शन हैं, और स्वयं अपने में एक मनोरंजक अध्ययन भी। आने वाली पीढ़ियाँ निश्चयपूर्वक देख सकेंगी कि उस युग का साहित्य, विशेषकर, आलोचना क्षेत्र, किस प्रकार संकीर्ण, एकांगी, पक्षधर तथा वादग्रस्त रहा है और उसमें तब की राजनीतिक दलबंदियों के प्रतिफल स्वरूप किस प्रकार मान्यताओं तथा कला-रुचि संबंधी साहित्यिक गुटबंदियाँ रही हैं। भविष्य, निश्चय ही, इस युग के कृतित्व पर अधिक निष्पक्ष निर्णय दे सकेगा, काल ही वह राज-मराल है जो नीर-क्षीर विवेक की क्षमता रखता है।

मुझे स्मरण है, 'पल्लव' की प्रमुख रचना "परिवर्तन" लिखने के बाद मेरा काव्य-बोध का क्षितिज बदलने लगा था, जिसका आभास "छायाकाल" शीर्षक 'पल्लव' की अंतिम रचना में मिलता है, जिसमें मैंने अपने किशोर मन से प्रकट रूप से विदा ली है।

स्वस्ति, जीवन के छाया काल,
मूक मानस के मुखर मराल,
स्वस्ति, मेरे कवि बाल!
... ...

विश्व हो भोला बालपन,
मध्य जीवन, पर, परिवर्तन!
स्वस्ति, मेरे अनंग नूतन,
पुरातन मदन दहन!

इसके अतिरिक्त कि "बालापन", "परिवर्तन" तथा "अनंग" 'पल्लव' की रचनाओं के शीर्षक हैं, इस प्रगीत में अन्य बातों की ओर भी संकेत है। मैंने अपने मानस को मूक कहा है; मेरा विचारों का मन तब जाग्रत् नहीं था, केवल भावों का मराल मुखर था। मैंने अनंग नूतन के रूप में अनागत अरूप नूतन का स्वागत किया है साथ ही पुरातन-रूढ़ि-रीतियों में बद्ध जीवन का मदन-दहन करने की इच्छा प्रकट की है, जो युगांत में मुखरित हो सकी है। यह संपूर्ण कविता मेरी उस काल की मनोवृत्ति की सच्ची दर्पण है; उसे मैंने 'पल्लव' के अंत में विशेष रूप से स्थान दिया है।

"परिवर्तन" में अंकित मानव-जीवन के दुःख-दैन्य के कारण-बीज अधिकतर

हमारी पुरातन रूढ़ि-रीतियों तथा मध्ययुगीन सामाजिक व्यवस्था में हैं, इसका बोध मुझे तब होने लगा था। 'पल्लव' सन् २६ में प्रकाशित हुआ है, तब से सन् ३२ तक—जब 'गुंजन' प्रकाशित हुआ—मेरे मानस मंथन का युग रहा है, जिसमें मुझे एक सूक्ष्म दृष्टि भी प्राप्त हुई है, जिसके प्रारम्भिक स्फुरण "जग के उर्वर आँगन में" तथा "लाई हूँ फूलों का हास" आदि सन् ३० की रचनाओं में, और व्यापक स्वरूप के दर्शन 'ज्योत्स्ना' के नवीन युग प्रभात में मिलते हैं, जो सन् ३४ में प्रकाशित हुई है। 'गुंजन' में मेरी नवीन साधना के प्रगीत हैं। अवश्य ही 'पल्लव' कालीन किशोर मानस तब अपना सहज संतुलन खो चुका था, जो प्रकृतिगत जीवन-सिद्ध संस्कारों तथा संसार के प्रति जन्मजात विश्वासों का बना होता है। 'गुंजन' काल में मुझे अपने प्रति पुनः नवीन आत्म-विश्वास जागृत करने की आवश्यकता थी। पारिवारिक अवलंब छूट जाने के कारण, जिसकी चर्चा 'आत्मिका' में है, व्यक्तिगत सुख-दुःखों एवं मानसिक ऊहापोहों को नवीन बोध के धरातल पर उठाने के साथ ही जग जीवन से भी नवीन रूप से सम्बन्ध स्थापित करने की जीवनाकांक्षा मुझे प्रेरित करने लगी थी। "जग जीवन में है सुख दुख" अथवा "स्थापित कर जग में अपनापन" आदि, अनेक रचनाएँ इस इच्छा की द्योतक हैं। "तप रे मधुर मधुर मन" में—जो 'गुंजन' की प्रथम रचना है—मैं अनुभवों की आँच में तपकर अपने मन को नवीन रूप से नवीन विश्वासों में ढालना चाहता हूँ। "सुन्दर विश्वासों से ही बनता रे सुखमय जीवन" भी इसी मानस-रचना के प्रयत्न का परिचायक है। वह जिज्ञासाओं के संघर्ष का युग था; 'गुंजन' की "अप्सरा" जब पीछे 'ज्योत्स्ना' के रूप में प्रस्फुटित होकर मेरे मन में अवतीर्ण हुई तब तक मुझे अनेक नवीन विश्वासों, आदर्शों तथा विचारों की उपलब्धियाँ हो चुकी थीं।

मानव समाज के रूपान्तर की भावना का उदय मेरे मन में 'ज्योत्स्ना' काल ही में हो गया था। 'ज्योत्स्ना' में मनः स्वर्ग से अनेक नवीन सृजन शक्तियाँ भू-मानस पर अवतरित होती हैं। उनका गीत इस प्रकार है :

> हम मनःस्वर्ग के अभिलाषी,
> जग जीवन के शुभ अभिलाषी,
> नित विकसित, नित वर्धित अचित,
> युग युग के सुरगण अविनाशी!
> हम नामहीन, अस्फुट नवीन,
> नव युग अधिनायक, उद्भासी!

इस गीत में नित विकसित, नित वर्धित तथा हम नामहीन, अस्फुट नवीन, नवयुग अधिनायक—विशेषण विशेष ध्यान देने योग्य हैं। स्वप्न और कल्पना ज्योत्स्ना से कहते हैं : "इन मानवीय भावनाओं के वस्त्र पहनाकर एवं मानवीय रूप रंग आकार ग्रहण कराकर हमें आपने उन्मुक्त निःसीम से किस दिव्य प्रयोजन के लिए अवतीर्ण करवाया, सम्राज्ञि।" उसी दृश्य में देववत कहता है : "जिस

प्रकार पूर्व की प्राचीन सभ्यता अपने एकांगी तत्वावलोचन के दुष्परिणामस्वरूप काल्पनिक मुक्ति के फेर में पड़कर ''जन समाज की ऐहिक उन्नति के लिए बाधक हुई उसी प्रकार पश्चिमी सभ्यता एकांगी जड़वाद के दुष्परिणामस्वरूप ''' विनाश के दलदल में डूब गई।'' और भी, ''पाश्चात्य जड़वाद की मांसल प्रतिभा में पूर्व के अध्यात्म प्रकाश की आत्मा भर एवं अध्यात्मवाद के अस्थि-पंजर में जड़विज्ञान के रूप रंग भरकर हमने नव युग की सापेक्षतः परिपूर्ण मूर्ति का निर्माण किया है। उसी पूर्ण मूर्ति के विविध अंग स्वरूप पिछले युगों के अनेक वादविवाद यथोचित रूप ग्रहण कर सके हैं।'' भौतिक आध्यात्मिक समन्वय तथा रूपांतरित भू-जीवन के मूल्यों की नींव—जिन्हें मेरी आगे की रचनाओं में अधिक पूर्ण अभिव्यक्ति मिल सकी है—मेरे मन में इसी काल में पड़ गई थी। 'ज्योत्स्ना' की सूक्ष्म दृष्टि मेरी आँखों के सामने एक गहरी वर्णमैत्री के विराट् इन्द्रधनुष की तरह खुली थी। मेरे मन की एक सूक्ष्म आनन्द—जो आस्था भी था—स्पर्श कर चुका था। 'ज्योत्स्ना' का ज्योति अंधकार का युद्ध मेरे ही मन का युद्ध था, जिसकी चर्चा मैंने 'आत्मिका' में की है :

> मानस तल में ऊपर नीचे चलता तव संघर्षण अविरत,
> तम पर्वत, सागर प्रकाश का मंथित रहते शिखरों में शत !
> ... ...
> करवट लेता भावी नव युग, गत भू मन को कर क्षत विक्षत,
> ... ...
> मुँह तक तम से भर जाता मन उपचेतन आवेशों से स्खलित !
> ... ...
> अविदित भय से कँपता अंतर स्वर्गिक संकेतों से पोषित,
> ... ...
> तम प्रकाश की युग संध्या में होता मन में मौन अवतरित,
> 'ज्योत्स्ना' का जीवन प्रभात नव, भू पर श्री सुख शोभा कल्पित।

'युगांत' तक मेरी भावना में नवीन के प्रति एक आग्रह उत्पन्न हो चुका था, जिसे ''दुद भरो जगत के जीर्ण पत्र'' अथवा ''गा, कोकिल, बरसा पावक कण''-''रच मानव के हित नूतन मन''—आदि रचनाओं में मैंने वाणी दी है। इस नवीन भाव-बोध के सम्मुख मेरा 'पल्लव' युग का कलात्मक रूप मोह ('पल्लव' की भूमिका जिसका निदर्शन है) पीछे हटने लगा। मेरा मन युग के आन्दोलनों, विचारों, भावों तथा मूल्यों के नवीन प्रकाश से ऐसा आंदोलित रहा कि 'पल्लव' 'गुंजन' की सूक्ष्म कला-रुचि को मैं अपनी रचनाओं में बहुत बाद को, परिवर्तित एवं परिणत रूप में, संभवतः 'अतिमा-वाणी' के छंदों में, पुनः प्रतिष्ठित कर सका हूँ, जिनमें उसका विकास तथा परिष्कार भी हुआ है और उसमें कला वैभव के साथ भाव वैभव भी उसी अनुपात में अनुस्यूत हो सका है, जो 'पल्लव-गुंजन' काल की रचनाओं में संभव न था। [illegible] रचनाओं में कला-

ह्रास में चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं, जिसे मैं दृष्टि-भेद की विडंबना कहूँगा। 'उत्तरा' को सौंदर्यबोध तथा भाव ऐश्वर्य की दृष्टि से, मैं अब तक की अपनी सर्वोत्कृष्ट कृति मानता हूँ। उसके अनेक गीत, जो 'चिदंबरा' में सम्मिलित हैं, अपने काव्यतत्त्व तथा भाव चैतन्य की ओर, समय आने पर, पाठकों का ध्यान आकर्षित कर सकेंगे। 'उत्तरा' के पद नव मानवता के मानसिक आरोहण की सक्रिय चेतन आकांक्षा से झंकृत हैं। चेतना की ऐसी क्रियाशीलता मेरी अन्य रचनाओं में नहीं मिलती है।

स्वप्नजाल धरणी का अंचल,
अंधकार उर आज रहा जल!
... ...
तुम रजत वाष्प के अम्बर से,
बरसाती शुभ्र सुनहली झर!
... ...
स्वप्नों की शोभा बरस रही,
रिम झिम झिम अंबर से गोपन!
... ...
लो, आज झरोखों से उड़ कर
फिर देवदूत आते भीतर!
... ...
कैसी दी स्वर्ग विभा उडेल
तुमने भू मानस में मोहन! इत्यादि।

ऐसे अनेक उदाहरण 'उत्तरा' से दिए जा सकते हैं जो युग मानव के भीतर नवीन जीवन आकांक्षा के उदय की सूचना देते हैं, जिस नवीन भावबोध की पृष्ठ-भूमि (मनोभूमि) के कारण ही आज बहिर्जीवन का दैन्य मनुष्य को इतना कुत्सित तथा कुरूप प्रतीत होने लगा है। 'उत्तरा' में मैंने पृथ्वी पर स्वर्गिक शिखरों का वैभव लुटाने का दावा किया है:

मैं स्वर्गिक शिखरों का वैभव,
हूँ लुटा रहा जन धरणी पर!
... ...
देवों को पहना रहा पुनः
मैं स्वप्न-मांस के मर्त्य वसन!

'ग्राम्या' में भी, मेरी दृष्टि में, ग्राम जीवन के भाव क्षेत्र के अनुरूप कला शिल्प वर्तमान है। 'ग्राम्या' की भाषा गाँवों के वातावरण की उपज है:

गंजी को मार गया पाला
अरहर के फूलों को झुलसा,

हाँका करती दिन भर बंदर
अब मालिन की लड़की तुलसा !
... ...

बैठी छाती की हड्डी अब
झुकी पीठ कमठ सी टेढ़ी,
पिचका पेट, गड़े कंधों पर,
फटी बिवाई से हैं एड़ी !
... ...

खैर, पैर की जूती, जोरू
एक न सही, दूसरी आती,
पर जवान लड़के की मुख कर
साँप लोटते, फटती छाती। इत्यादि।

'ग्राम्या' के भाव पक्ष में—जिसे मैंने कोरी भावुकता से बचा कर, सहानुभूति-पूर्वक, मान्यताओं के प्रकाश में सँवारा है—लोक जीवन के कलुष पंक को धोने के लिए, नये मानव की अंतर-पुकार है। 'युगवाणी' और 'स्वर्ण धूलि' में भाव ऐश्वर्य की तुलना में, कलापक्ष, संभवतः गौण हो गया है, जो मेरी दृष्टि में स्वाभाविक है। इनमें मेरी कल्पना ने अनुद्घाटित नवीन भूमियों तथा क्षितिजों में प्रवेश किया है। वह केवल मेरे भाव प्रवण हृदय का आवेग ज्वार था, जो विगत युगों की भौतिक, सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक मान्यताओं से ऊब-खीझकर अपनी अबाध जिज्ञासा के प्रवाह में, अंध-रूढ़ियों के बंधनों तथा निषेध-वर्जनों के अवरोधों को लाँघता हुआ, पार्थिव-अपार्थिव नवीन चैतन्य के धरातलों तथा शिखरों की ओर बढ़ता एवं आरोहण करता गया। वास्तव में वह आरोहण मेरे लिए स्वयं एक कलात्मक अनुभव एवं सांस्कृतिक अनुष्ठान रहा है। कविता और कला-शिल्प मेरी दृष्टि में फूल और उसके रूप मार्दव की तरह अभिन्न हैं। रूप-मार्दव ?—हाँ, किन्तु रंग गंध मधु फल ही फूल का वास्तविक दान है। अन्न भरी सुनहली बाल, ताल पर खड़ी रहने के बदले, यदि अपने ऐश्वर्य भार से झुक जाती है, तो इसे विधाता की कला की परिणति ही समझना चाहिए। कुछ ऐसा ही कलात्मक संबंध मेरे मन का, 'युगवाणी', 'स्वर्णकिरण' तथा 'स्वर्णधूलि' की रचनाओं से रहा है। 'स्वर्णधूलि' में आर्षवाणी के अन्तर्गत वैदिक साहित्य के अध्ययन से प्रभावित जो मेरी रचनाएँ हैं, वे अक्षरशः वैदिक छंदों के अनुवाद नहीं हैं। मेरे भाव-बोध ने उन मंत्रों को जिस प्रकार ग्रहण किया है वही उनका मुख्य तत्त्व और स्वर है। कहीं-कहीं तो मैंने उन मंत्रों की व्याख्या कर दी है।

'पल्लव' के सौंदर्यबोध के क्षितिज से बाहर निकलते-निकलते जब मैं अपने तथा बाहर के जगत् के प्रति प्रबुद्ध हुआ तो मुझे जीवन की भीतरी बाहरी परिस्थितियों का बोध पीड़ित करने लगा। 'पल्लव' काल में मैं परमहंस देव के वचनामृत

तथा स्वामी विवेकानंद और रामतीर्थ के विचारों के संपर्क में आ गया था। अपने देश में स्वतंत्रता-युद्ध के स्वरूप तथा गांधीजी के व्यक्तित्व ने मेरा ध्यान भारत के मानस-महत्व तथा जीवन-दैन्य की ओर आकृष्ट किया। सन् '२१ के असहयोग में मैं अपने छात्र-जीवन से विदा ले चुका था। गांधीजी का तपःपूत, कर्मठ व्यक्तित्व, जो धीरे-धीरे गांधीवाद का रूप ग्रहण करने लगा था, मन को अधिकाधिक आकर्षित करता था। 'गुंजन' के आत्म संस्कार के स्वर में, अप्रत्यक्ष रूप से, गांधीजी का भी प्रभाव हो सकता है। उनके सांस्कृतिक चैतन्य को, मैंने, उस युग की अनेकानेक छोटी बड़ी रचनाओं में, श्रद्धांजलि अर्पित की है।

देश के जीवन-दर्शन से बाहर मेरा ध्यान सर्वाधिक तब जिन वस्तुओं की ओर आकृष्ट हुआ था वे थे मार्क्सवाद तथा रूसी क्रांति। गांधीवाद के साथ तब प्रायः समाजवाद-साम्यवाद के विचारों, आदर्शों तथा कार्यप्रणालियों की प्रतिध्वनियाँ कानों में पड़ती थीं। मेरे किशोर सखा पूरन (जो पी० सी० जोशी के नाम से प्रसिद्ध हैं) तब प्रयाग विश्वविद्यालय में इतिहास के छात्र थे। उनसे प्रायः ही नये राजनीतिक आर्थिक सिद्धान्तों की चर्चा और उन पर वाद-विवाद होता था। उनका व्यक्तित्व एवं मानस, उन तीन-चार वर्षों के भीतर, मेरी आँखों के सामने ही, धीरे-धीरे उल्लिहया के भरे-पुरे फूल की तरह, पूर्ण साम्यवादी के रूप में प्रस्फुटित हुआ था। ऐतिहासिक चेतना से प्रभावित होने के कारण उनको जीवन के समस्त क्रिया-कलापों, अभावों तथा दैन्यों का निदान और समाधान बाह्य जगत् में ही दिखाई देता था। उनकी मानसिक परिणति ने मार्क्सवाद तथा साम्यवाद के अनेक दुर्बल-सशक्त पक्षों को मेरी आँखों के सामने अपने-आप खोल दिया और उनकी निष्कपट मैत्री के स्पर्श ने उन उग्र सिद्धान्तों की ममता तथा सहानुभूति की दृष्टि से देखना सिखला दिया। मार्क्सवाद का जटिल आर्थिक पक्ष मुझे मेरे भाई स्व० देवीदत्त पंत ने समझाया था। वह तब प्रयाग विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में एम० ए० कर चुके थे और कुशाग्र बुद्धि होने के कारण अपने विषय के मर्मज्ञ थे। अपने मित्र तथा भाई के संपर्क में आकर मैं मार्क्सवाद के गहन कांतार को, अपने ठीठ कल्पना पंखों से, साहसपूर्वक, अत्यन्त उत्साह तथा हर्षानुभूति के साथ पार कर सका, (तब, जब हिन्दी में, संभवतः, इस प्रकार की कविता का जन्म भी नहीं हुआ था, जो पीछे प्रगतिशील कविता कहलाई) और कालाकाँकर के गाँवों का वातावरण पाकर 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की रचनाओं में अपनी उस नवीन जीवन-दृष्टि की प्रक्रियाओं को उन्मुक्त रूप से वाणी दे सका। 'युगवाणी' की रचनाएँ सन् '३७-'३८ में लिखी गई थीं। उनमें से अधिकांश सन् '३८ में 'रूपाभ' के अंकों में प्रकाशित हो चुकी थीं। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में ('ग्राम्या' में सन् '३९-'४० की रचनाएँ हैं) अनेक नवीन सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण मेरे मन में उदय हुए हैं। आज भी, जब नव मानवतावाद की दृष्टि से, मैं विश्व जीवन के बाह्य पक्ष की समस्याओं पर विचार करता हूँ तो मार्क्सवाद की उपयोगिता मुझे स्वयं-सिद्ध प्रतीत होती है।

आज की राजनीतिक दलबंदी में खोये हुए, पूर्वग्रह पीड़ित आलोचकों को जब छायावाद अथवा चतुष्टय में, केवल मैं ही अप्रगतिशील लगता हूँ और वे सब प्रगतिशील लगते हैं, जो संभवतः, तब युग-दायित्व के प्रति पूर्णतः प्रबुद्ध भी न थे, तो मैं उनका प्रतिवाद नहीं करता। मानव-जीवन के व्यापक सत्यों को, चाहे वे आंशिक हों या आध्यात्मिक, पूर्वग्रह और विद्वेष की टेढ़ी-मेढ़ी संकरी गलियों में भटकाकर झुठलाया नहीं जा सकता; समय पर वे लोक मानस में अपना अधिकार अवश्य स्थापित करेंगे। संभवतः जिस संकीर्ण अर्थ में अब प्रगतिवाद का प्रयोग किया जाता है, उस अर्थ में मैं प्रगतिवादी हूँ भी नहीं।

अपने-अपने 'हीरो' (नायक) के उपासक, ये पक्षधर आलोचक जब 'पल्लव' की कला का समर्थन करते हैं, तो मैं जानता हूँ, वे पाठकों का ध्यान मेरी उन कृतियों से विरत करने का बहाना खोजते हैं जिनमें उन्हें अपनी दलगत संकीर्णता तथा एकांगिता का समर्थन नहीं मिलता। काव्य-गुण तथा लोक-मांगल्य की दृष्टि से मेरी उत्तर कृतियों के वैतरंग तथा कला-बोध के सामने 'पल्लव' की कला अल्प-प्राण बालिका के समान तुतलाती प्रतीत होती है। वे पूछते हैं, प्रकृति तथा इंद्र-धनुष को देखकर मेरे मन में अब भी वैसी ही विस्मयकारी कैशोर प्रतिक्रियाएँ क्यों नहीं होतीं, जैसी 'पल्लव' काल में होती थीं। ऐसे अबोध प्रश्नों का क्या उत्तर हो सकता है?

कला के कोमल फेन का मूल्य मानवीय संवेदना के स्वस्थ सौन्दर्य से अधिक है, इसे मेरा मन नहीं मानता। फिर कला के अनेक रूप हैं, जिनसे वह मर्म को स्पर्श करती है। 'युगवाणी' की अनेक पंक्तियाँ 'पल्लव' की मांसल कल्पना एवं अलंकरणों से रहित होने पर भी अपनी कलात्मक क्षमता रखती हैं। "आज असुन्दर लगते सुंदर" इस आधे चरण से आज के युग जीवन की विपन्न रूप-रेखा आँखों के सामने आ जाती है, क्या यह कला की शक्ति नहीं? "बन गए कलात्मक भाव, जगत के रूप नाम" में समस्त मानव भविष्य के निर्माण का चित्र खिंच जाता है। "कंकाल जाल जग में फैले फिर नवल रुधिर, पल्लव लाली" का गतिशील स्वस्थ सौंदर्य छिपा नहीं है। वनस्पति शास्त्री कहते हैं, जब वन में वसंत आता है तो वनस्पति जगत् के जीवन में इतनी अधिक गति का संचार होता है कि वन के जीव-जंतुओं का जीवन भी अपनी भागदौड़ में उससे होड़ नहीं ले पाता। उपर्युक्त चरण में भी उसी वेग से नवजीवन का रुधिर दौड़ता दिखाई देता है। "इस धरती के रोम रोम में भरी सहज सुंदरता" --'पल्लव' में ऐसी व्यापक अनुभूति की सरल कलात्मक अभिव्यक्ति कहीं नहीं मिलती। ऐसी सैकड़ों पंक्तियाँ पल्लवोत्तर काव्य ग्रंथों से चुनी जा सकती हैं। मैंने अधिकांश उदाहरण 'युगवाणी' से इसलिए दिए हैं कि उनमें कला का एकांत अभाव बताया जाता है। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की कलात्मक अभिव्यक्ति वस्तुपरक है। 'युगवाणी' के तीसरे संस्करण की भूमिका में मैंने इस पर प्रकाश डाला है। वह हमारे युग की अदम्य कलात्मक न्याय की पुकार थी जिसने मुझे 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' लिखने को बाध्य किया। 'स्वर्ण किरण' और बाद की रचनाओं का कला पक्ष

भी भाव सौन्दर्य मंडित, अंतर्दीप्त एवं मांगल्य शक्ति संपन्न है; यह दूसरी बात है कि उनमें राजनीतिक दलबंदी की रिक्त पुकार तथा रूक्ष प्रचार न हो।

वास्तव में, हमारे साहित्य में जीवन-यथार्थ की धारणा इतनी एकांगी, खोखली तथा रुग्ण हो गई है कि हमें शोषित, जर्जर और लघु मानव के ऋण चित्रण में ही कलात्मक परितृप्ति मिलती है। हम स्वस्थ मानवता की दिशा की ओर दृष्टिपात नहीं करना चाहते, क्योंकि वहाँ हम अपनी मध्यवर्गीय कुंठाओं से ग्रस्त, आत्म-पराजित, क्षुद्र, संकीर्ण, द्वेषदग्ध, काममूढ़ जीवन के लिए सहानुभूति नहीं जगा पाते, जिसे युग जीवन तथा कला का परिधान पहनाकर दूसरों के करुणा कण प्राप्त करने के लिए हम आत्म विस्तार का माध्यम बनाना चाहते हैं,—जो नव लेखन का दृष्टिकोण है, जो सद्य: और क्षणिक की अँगुली पकड़े हुए है। अथवा, हम राज-नीतिक आवेगों एवं शक्तिमद की आकांक्षा से प्रेरित होकर आलोचना के नाम में मतवाद तथा गाली-गलौज का अंधड़ उठाकर उसमें साहित्यिक मूल्यों को, आमूल, वृक्षों की तरह, उखाड़ फेंकना चाहते हैं, जो हमारा प्रगतिशील दृष्टिकोण रहा है। दोनों ही में धन यथार्थ की धारणा का अभाव है—ऐसा धन या भाव यथार्थ जो आज के विश्वव्यापी ह्रास से मानव जीवन को ऊपर उठाकर उसे शांति, प्रकाश तथा कल्याण के भुवनों की ओर ले जा सके।

प्रेमचंद जी का यथार्थ राजनीतिक दाँव-पेंचों का यथार्थ न होकर मानवीय तथा साहित्यिक यथार्थ था। वह लघु मानव की कुंठाओं से भरा, तुच्छ, आत्म-पीड़ित यथार्थ नहीं, जिसमें मनुष्य परिस्थितियों की निर्ममता को अपनी रीढ़ तोड़ने देता है और अपनी आगे न बढ़ सकने की लुंजपुंज क्षोभ भरी वास्तविकता का चित्रण कर आत्म-तृप्ति का अनुभव करता है। प्रेमचन्द का यथार्थ सामाजिक जीवन के साथ संघर्ष करता हुआ, विकासशील, आशा-क्षमतापूर्ण, मनुष्य को आगे बढ़ाने वाला, व्यापक यथार्थ था, जिसमें लोक मांगल्य के नव अंकुरित बीज मिलते हैं।

यदि प्रगतिशील विचारकों का ध्येय साहित्यिक नेतागीरी तथा यांत्रिक तार्किक मूल्यों का प्रचार करना रहा है, तो नव लेखन का ध्येय, अधिकतर, रूप-विधान का मोह तथा रीढ़हीन, आत्म सुख-दुख के कर्दम में रेंगने वाले लघु यथार्थ के कला-फैन की सृष्टि करना,—जिसमें भाव की समस्त शक्ति रूप की भूलभुलैयाँ में खो जाती है। लोक जीवन एवं विश्वजीवन प्रवाह की मुख्य मान्यताओं का परि-त्याग कर और व्यापक मानवीय मूल्यों की ओर आँख मूँदकर, अधिकांश नव लेखकों ने गौण, अतिवैयक्तिक, मनोच्छ्वासपरक तथा कुछ अंशों में प्रतिक्रियात्मक मान्य-ताओं को अपनाया है। उनमें से अनेक प्रतिभा संपन्न लेखक जनतंत्रवादी देशों में विशेष पश्चिम के कोमल अस्थि, अल्प संस्कृत बुद्धिजीवी तथा अस्तित्ववादियों से प्रभावित हैं, जो समतल निराशा एवं विषाद के कारण, महत् के प्रति संदेहग्रस्त तथा क्षणिक एवं अल्प के प्रति सुखवादियों की तरह मुग्ध होकर, संकीर्णतापूर्ण मध्य-कालीन तुच्छ कुल-वंश के प्रति आस्था ममता रखने वाली रूढ़ता, कुंठा एवं आत्म-पीड़ित भावुकतावादिता की कला की लालित्य देश के अवशेष व कला की कला के लिए

सँवारकर, उसे साहित्य के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। आज की नयी कविता अपनी प्रयोगवादी सीमाओं को अतिक्रमण करने के प्रयत्न में, नवीन मानव मूल्यों की खोज में, सामाजिक चेतना की वास्तविकता के धरातल से हीन एक भयानक शून्य में भटक गई है और उपचेतन व्यक्तित्व के मोहक गर्त में फँसकर ऐसे अति वैयक्तिक छायाभासों तथा व्यक्तिगत रुचियों के भावना मूढ़ भेदोपभेदों, अति वास्तविक प्रतीकों तथा शशक शृंग बिम्बों को जन्म दे रही है जिनका मानवता तथा लोक-मांगल्य से दूर का भी सम्बन्ध नहीं,—मांगल्य, जो बहुमुखी मानव सत्य की एक मात्र कसौटी है। इस प्रकार वह एक कृत्रिम भाविक अलंकरण मात्र बनती जा रही है।

प्रयोगवादी कविता की भविष्य में क्या संभावना है यह अभी नहीं कहा जा सकता। अभी तक तो उसमें असंपृक्त खंडित बिम्बों तथा भग्न प्रतिमाओं के खंडहरों में इधर-उधर क्षण-सौन्दर्य की झाँकी के साथ चकाचौंध और कृत्रिम चमत्कार ही अधिक मिलता है। प्रकाश जो अंतस्तल एवं अंतर्गठन है, उसके बीज तथा अंकुर अभी नहीं दिखाई पड़ते हैं। किन्तु भविष्य की कविता अवश्य ही मानवता की सर्वश्रेष्ठ सिद्धि होगी, जिसमें सौन्दर्य, प्रेम, प्रकाश और आनंद अपने क्षितिजों के पार के ऐश्वर्य को रूप-बोध के सूक्ष्म सूत्रों में गूँथ सकेंगे, इसमें सन्देह नहीं। अपनी अनेक सीमाओं के रहते हुए भी जो भविष्य में मिटाई जा सकती है,—हिन्दी काव्य के राजपथ पर, अभी तक तो छायावाद ही, नवीन सौन्दर्य मंजरियों का मुकुट लगाए, नवीन प्रकाश दिशा की खोज में, मंद धीर गति से चरण बढ़ा रहा है, ऐसा मेरा अनुमान है।

नये लेखक-आलोचक, आत्म विज्ञापन की धुन में, छायावाद का परिचय अपने पाठकों को उसी प्रकार देते हैं जिस प्रकार कोई रामायण में तुलसी की नारीत्व के प्रति भावना को "ढोल गँवार शूद्र पशु नारी" का उदाहरण देकर उपस्थित करे। छायावाद तथा काव्य मूल्यों के संबंध में दोनों दलों के लेखकों के जो अधिकांश आलोचनात्मक ग्रंथ तथा लेख विगत वर्षों में निकले हैं, वे इस बात के प्रमाण हैं। मैं यह सब लिखकर सामान्य हिन्दी पाठकों के लिए—जो लेखक वर्ग में नहीं हैं—इधर की काव्य मान्यताओं तथा साहित्यिक आलोचनाओं की पृष्ठभूमि स्पष्ट किए दे रहा हूँ, जिससे उन्हें युग साहित्य को समझने में सहायता मिले।

'पल्लव' काल तक मेरा कवि आत्म प्रबुद्ध नहीं हुआ था; उसके बाद ही वह अपने बाहर भीतर के जीवन प्रवाह के प्रति सचेत हो सका और अपने बाहर के सामाजिक जीवन की सीमाओं से क्षुब्ध होकर उसने 'युगांत', 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में, पुरानी दुनिया की अंध रूढ़ि, रीति परम्पराओं तथा वैज्ञानिक युग से पहले की संकीर्ण आर्थिक राजनीतिक प्रणालियों तथा सामाजिक परिस्थितियों में पछराई हुई बाह्य जीवन की चेतना पर निर्मम आघात किए और अपने युग की संभावनाओं से नई दृष्टि प्राप्त कर नवीन परिस्थितियों के विकसित सत्य को वाणी देने का प्रयत्न किया। साथ ही, विगत युगों के नैतिक धार्मिक विचारों एवं आदर्शों की सीमाओं से परिचित होते

पर मानव जीवन तथा मन को व्यापक धरातल पर उठाने के अभिप्राय से युग का ध्यान नवीन चैतन्य तथा अध्यात्म के शिखरों की ओर आकृष्ट किया और शक्तियों के पुंजीभूत निष्क्रिय मानस अंधकार को नवीन स्वप्नों की सुनहली लपटों में जगाने की चेष्टा की। इसमें मेरी निर्मम सीमाएँ परिलक्षित होती हों, पर ये वे सीमाएँ नहीं, जिनकी कि पक्षधर आलोचक घोषणा करते हैं।

मेरा भावप्रवण हृदय बचपन से ही सौन्दर्य के प्रेरणाप्रद स्पर्शों के प्रति संवेदनशील रहा है, वह सौंदर्य चाहे नैसर्गिक हो या सामाजिक, मानसिक हो या आध्यात्मिक। मैं हिमालय तथा कूर्माचल के प्राकृतिक ऐश्वर्य से उसी प्रकार किशोरावस्था में प्रभावित हुआ हूँ, जिस प्रकार युवावस्था में गांधीजी तथा मार्क्स से अथवा मध्य वयस में श्री अरविंद के दर्शन तथा व्यक्तित्व से। हिमालय पर मेरी सबसे बड़ी रचना मद्रास में लिखी गई, जहाँ विशाल समुद्र के तट पर हिमालय के विराट् सौन्दर्य की शुभ्र स्मृति मनश्चक्षुओं के सामने निखर उठी और किशोर जीवन की अनेक मधुर स्मृतियाँ एवं अनुभवों में पुंजीभूत प्रवासी मन में "हिमाद्रि" तथा "हिमाद्रि और समुद्र" शीर्षक रचनाएँ मूर्त हो उठीं। युवावस्था के आरंभ में रवीन्द्रनाथ तथा अंग्रेजी कवियों ने भी मेरी कला-रुचि का संस्कार किया है; किन्तु कला-रुचि एवं सौंदर्यबोध में भी अधिक मूल्यवान जो इस युग के लिए नवीन भाव-चैतन्य, नवीन सामाजिकता तथा नवीन मानवता का बोध है वह मुझ में गांधी, मार्क्स तथा श्री अरविंद के संपर्क से विकसित हुआ। निस्संदेह, मेरे भीतर अपने विशिष्ट संस्कार रहे हैं। प्रबुद्ध होने पर अपने युग तथा समाज से मुझे घोर असंतोष रहा है। भारती के जीवन को नवीन मानवीय ऐश्वर्य एवं सौंदर्य से मंडित देखने की दुर्निवार आकांक्षा मुझमें, अधिक कल्पनाशील होने के कारण, युवावस्था ही में उत्पन्न हो गई थी। साथ ही, मेरे भीतर अनेक प्रकार की बौद्धिक, मानसिक सूक्ष्म प्रक्रियाएँ भी निरंतर चलती रही हैं, जिनसे ग्रहणशीलता की वृद्धि के अतिरिक्त, मुझे अनेक उपलब्धियाँ भी होती रही हैं। मैंने बाहर के प्रभावों को सदैव अपने ही अंतर के प्रकाश में ग्रहण किया है, और वे प्रभाव मेरे भीतर प्रवेश कर नवीन दृष्टिकोणों तथा उपकरणों से मंडित होकर निखरे हैं, जिन्हें मैं समय-समय पर अपनी रचनाओं में वाणी दे सका हूँ। जब मानव-मन की सूक्ष्म अनुभूतियों के प्रति, आधुनिकता का दावा करने वाले, आज के कोरे बौद्धिक संदेह प्रकट करते हैं, तो यह समझने में देर नहीं लगती कि उनकी बौद्धिकता तथा आधुनिकता कितने गहरे पानी में है। 'चिदंबरा' की पृथु-आकृति में मेरी भौतिक, सामाजिक, मानसिक, आध्यात्मिक संचरणों के प्रेरित कृतियों को एक स्थान पर एकत्रित देखकर पाठकों को उनके भीतर व्याप्त एकता के सूत्रों को समझने में अधिक सहायता मिल सकेगी। इनमें, मैंने अपनी सीमाओं के भीतर, अपने युग के बहिरंतर के जीवन तथा चैतन्य को, नवीन मानवता की कल्पना से मंडित कर, वाणी देने का प्रयत्न किया है। मेरी दृष्टि में 'युगवाणी' से लेकर 'वाणी' तक मेरी काव्य-चेतना का एक ही संचरण है, जिसके भीतर भौतिक और आध्यात्मिक चरणों की सार्थकता द्विपद मानव की प्रकृति के लिए सदैव ही, अनिवार्य रूप से रहेगी।

'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में भी मेरा दृष्टिकोण मानव जीवन के सत्य के प्रति समन्वयात्मक ही रहा है, जैसा कि मैं 'आधुनिक कवि भाग दो' की भूमिका में कह चुका हूँ। मैंने मानव जीवन के विकास के लिए भौतिक आध्यात्मिक दोनों मूल्यों की अनिवार्य आवश्यकता बतलाई है :

> भूतवाद उस धरा स्वर्ग के लिए मात्र सोपान,
> जहाँ आत्मदर्शन अनादि से समासीन अम्लान!
> ... ...
>
> अंतर्मुख अद्वैत पड़ा था युग युग से निष्क्रिय, निष्प्राण,
> जग में उसे प्रतिष्ठित करने दिया साम्य ने वस्तु विधान!
> ... ...
>
> मनुष्यत्व का तत्त्व सिखाता निश्चय हमको गांधीवाद,
> सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद!

इसी प्रकार 'ग्राम्या' में मैंने युग-संघर्ष को राजनीति-अर्थनीति तक ही सीमित नहीं रखा है :

> राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत् के सम्मुख,
> आज बृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित!
> ... ...
>
> नव प्रकाश में तमस युगों का होगा शनैः निमज्जित!

मध्ययुगीन नैतिकता के प्रति मेरे मन की प्रतिक्रिया 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में इस प्रकार व्यक्त हुई है :

> स्वर्ण पींजरे में बंदी है मानव आत्मा निश्चित!
> ... ...
>
> विविध जाति वर्गों धर्मों को होता सहज समन्वित,
> मध्ययुगों की नैतिकता को मानवता में विकसित!

यंत्रों के लिए 'ग्राम्या' में मैंने कहा है :

> जड़ नहीं यंत्र, वे भावरूप, संस्कृति छोतित!
> ... ...
>
> दार्शनिक सत्य यह नहीं यंत्र जड़, मानव कृत,
> वे हैं अमूर्त, जीवन विकास की स्थिति निश्चित!

मेरे और भी दो कविताओं उद्धरण दिए जा सकते हैं जिनमें मानव जीवन की सम्पूर्णता और उसके समाधान के लक्ष्य से मेरा निश्चित दृष्टिकोण प्रकट होता है, जो आगे चलकर मेरी कृतियों में बाकी तक की रचनाओं में विकसित होकर अधिक

पूर्ण अभिव्यक्ति पा सका है। अपनी उत्तरकालीन रचनाओं में मैंने इस समन्वयात्मक दृष्टिकोण को अतिक्रम कर और भी अधिक व्यापक क्षितिजों का उद्घाटन किया है। भूतवाद अथवा अध्यात्मवाद दोनों ही मुझे अपने में अधूरे लगे हैं। कोरे भूतवादियों से मैंने 'युगवाणी' में कहा है :

> हाड़ मांस का आज बनाओगे तुम मनुज समाज ?
> हाथ पांव संगठित चलाएंगे जग जीवन काज ?
> दया दरिद्र हो गए देख दारिद्र्य असंख्य तनों का ?
> अब दुहरा दारिद्र्य उन्हें दोगे असहाय मनों का ?

'उत्तरा' में मैंने भूतवाद तथा अध्यात्मवाद के एकांगी समर्थकों की भर्त्सना की है :

> तुम भाप उन्हें कहते हँसकर, वे तुमको मिट्टी का ढेला,
> वे उड़ सकते, तुम झड़ सकते, जीवन तुम दोनों का मेला !
> फिर भी यदि जड़ता तुमको प्रिय, उनको चेतनता—दुख नितांत,
> है सत्य एक,—जो जड़ चेतन, क्षर अक्षर, परम, अनंत शांत।

आध्यात्मिकता के पैर मैंने सदैव पृथ्वी पर स्थिर रखे हैं। मानवता के स्वर्ग को मैंने भौतिकता के ही हृदय कमल में स्थापित किया है। आध्यात्मिकता के निष्क्रिय, निषेधात्मक तथा क्षुण-पक्ष की अवहेलना कर मैंने उसे भू-जीवन विकास तथा जनमंगल का साधन बनाने का प्रयत्न किया है, जिसका सर्वप्रथम उदाहरण 'ज्योत्स्ना' का रूपक है। 'स्वर्ण किरण' में "द्वा सुपर्णा" शीर्षक रचना में मैंने वैदिक ऋषि के द्रष्टा तथा भोक्तारूपी पक्षियों (जीवों) को पृथक् रूप में स्वीकार न कर ऋषि से प्रश्न किया है :

> कहीं नहीं क्या पक्षी ? जो चखता जीवन फल
> विश्व वृक्ष पर वास, देखता भी है निश्चल ?
> परम अहम् औ' द्रष्टा भोक्ता जिसमें संग संग ?

और इसका उत्तर भी दिया है :

> ऐसा पक्षी जिसमें हो संपूर्ण संतुलन
> मानव बन सकता है निर्मित कर तरु जीवन।

मैंने कहा है शांति, आनंद अथवा ईश्वर-प्राप्ति के लिए भू-जीवन का त्याग करने की आवश्यकता नहीं, उसके लिए नवीन रूप से लोक-जीवन निर्माण करने की आवश्यकता है। 'स्वर्ण किरण' में अपनी 'इंद्रधनुष' तथा 'स्वर्णोदय' नामक रचनाओं में मैंने जीवन मूल्यों पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालने की चेष्टा की है :

हमें विश्व संस्कृति पृथ्वी पर करनी आज प्रतिष्ठित,
मनुष्यत्व के नव द्रव्यों से मानव उर कर निर्मित।
... ...

नव मूल्यों से हो जो कल्पित पुनः लोक संस्कृति पट ज्योतित,
हो कृतकाम नियति मानव की, स्वर्ग धरा पर विचरे जीवित।
... ...

भू रचना का भूतिपाद युग हुआ विश्व इतिहास में उदित,
सहिष्णुता, सद्भाव, शांति से हों गत संस्कृति धर्म समन्वित!
वृथा पूर्व पश्चिम का दिग् भ्रम मानवता को करे न खंडित,
बहिर्नयन विज्ञान हो महत् अंतर्दृष्टि ज्ञान से योजित।
... ...

एक निखिल धरणी का जीवन एक मनुजता का संघर्षण,
अर्थ ज्ञान संग्रह भव पथ का विश्व क्षेम का करे उन्नयन!

मानवता के भविष्य पर अपनी अमिट आस्था प्रकट करते हुए मैंने कहा है :

सस्मित होगा धरती का मुख, जीवन के गृह प्रांगण शोभन,
जगती की कुत्सित कुरूपता सुषमित होगी, कुसुमित दिशि क्षण!
विस्तृत होगा जन जन का पथ, शेष जठर का कटु संघर्षण,
संस्कृति के सोपान पर अमर सतत बढ़ेंगे मनुज के चरण।

इस प्रकार पाठक देखेंगे कि मैंने भौतिक आध्यात्मिक, दोनों दर्शनों से जीवनोपयोगी तत्त्वों को लेकर, जड़ चेतन संबंधी एकांगी दृष्टिकोण का परित्याग कर व्यापक सक्रिय सामंजस्य के धरातल पर, नवीन लोक-जीवन के रूप में, भरे-पुरे मनुष्यत्व अथवा मानवता का निर्माण करने का प्रयत्न किया है, जो इस युग की सर्वोपरि आवश्यक समस्या है। 'वाणी' में, जिसे आप मंच-काव्य या प्रवचन-काव्य भी कह सकते हैं, मेरा मानव-भविष्य का दर्शन अधिक महत्त्वपूर्ण स्तर पर "आत्मिका" में अवतीर्ण हुआ है :

सत्य तथ्य विज्ञान ज्ञान, दो पक्ष एक बहु के पोषक नित,
लोकश्रेय, जीवन उद्भव हित रहें विषम सम चरम समन्वित!
... ...

वैयक्तिक सामूहिक गति के दुस्तर द्वन्द्वों में जग खंडित,
जो अणुमृत जन, भीतर देखो, समाधान भीतर, यह निश्चित!
... ...

देश खंड से भू मानव का परिचय देने का क्या क्षण यह,
मानवता में देश जाति हों लीन, नए युग का सत्याग्रह।

आज विशेषीकरण समाजीकरण साथ चल रहे धरा पर
महत् धैर्य से गढ़ने सबको मन के मंदिर, जीवन के घर !
... ...

मनुज धरा को छोड़ कहीं भी स्वर्ग नहीं संभव, यह निश्चित !
... ...

ईश्वर से इन्द्रिय जीवन तक एक संचरण रे भू पावन !

ऐसे अनेक उदाहरण 'वाणी' से प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

सामाजिक सांस्कृतिक मान्यताओं का विकास इस युग में बहिर्तर संयोजित मानवता की रचना के रूप में होना चाहिए, जिस पर अनेक दृष्टिकोणों से प्रकाश डालने की आवश्यकता है, और जिसका सर्वाधिक दायित्व हमारी नवीन पीढ़ियों की प्रतिभाओं के कंधों पर है। कवीन्द्र रवीन्द्र के युग से हमारे युग की जीवन मान्यताओं का संघर्ष अत्यधिक प्रबल तथा जटिल हो गया है। 'वाणी' में मैंने कवीन्द्र रवीन्द्र शीर्षक रचना में नवीन युग-बोध की समस्या को प्रस्तुत किया है :

मग्न अचेतन कर्दम में भू जीवन शतदल,
उसे उठा, कर सके कलुष का मुख तुम उज्वल ?
... ...

विश्व कवे, तुम जिस मानवता के प्रतिनिधि बन
आए, वह खो चुकी हाय, मानुष्य परम धन !
... ...

क्या सोचा था ? नरक स्वर्ग ही का लघु उपक्रम,
जागेगा सोया प्रकाश, धरती का जो तम ?
... ...

महाकवे, युग पलकों पर झूला नव सावन,
दिग् विराट् नव मनुष्यत्व का दिव्य स्वप्न बन।

कवि या द्रष्टा, तंतुवाय की तरह, अपने ही भीतर से किसी काल्पनिक सत्य का जाल नहीं बुनता। उसकी अंतर्दृष्टि काल के अभ्यंतर या विश्व-मानस में चल रही सूक्ष्म शक्तियों की क्रीडा के प्रति सजग रहती है, वह उसी सत्य को अपने अनुभव की वाणी में गूँथ कर लोक-मानस के सम्मुख रख देता है।

युग-संघर्ष के अनेक रूपों को मैंने अपने काव्य-रूपकों द्वारा भी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। "फूलों का देश" में मैंने संस्कृति और विज्ञान के समन्वय के प्रश्न को उठाया है। "ध्वंसशेष" में अणुयुद्ध के बाद नवीन मानवता के निर्माण की समस्या प्रस्तुत की है। 'विद्युत वसना' में मैंने मानव-स्वतंत्रता के सिद्धांत को मानव-एकता के अधीन रखने की उपयोगिता पर प्रकाश डाला है। 'शिल्पी' में कला मूल्यों तथा 'रजतशिखर' में उपचेतन की समस्याओं तथा जीवन मान्यताओं के संघर्ष का

समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। "ध्वंसशेष" के तृतीय दृश्य में, जो इस संकलन में जा रहा है, मैंने वर्तमान सभ्यता के विविध तत्त्वों का मूल्यांकन किया है और उसके अंतिम दृश्य में नवीन मानवता के सांस्कृतिक मूल्यों को विकसित लोकतंत्र के रूप में प्रतिष्ठित कर ध्वंस के बाद नवीन मानव संस्कृति के उद्भव तथा निर्माण की दिशा की ओर संकेत किया है। अपने "सौवर्ण" नामक काव्य रूपक में मैंने प्राचीन निष्क्रिय अध्यात्म को सक्रिय बनाने की आवश्यकता पर बल दिया है। उसका क्रांत-द्रष्टा कहता है :

देख रहा मैं, बरफ बन गया, बरफ बन गया,
मानव का चैतन्य शिखर, नीरव, एकाकी,
निष्क्रिय, नीरस, जीवन-मृत, सब बरफ बन गया!
... ...

आह, उसे प्राणों का स्पंदित ताप चाहिए,
जीने को जन मन का भावोच्छ्वास चाहिए।

सौवर्ण के व्यक्तित्व में जिसका बाह्य रूप वर्तमान जनयुग के संघर्ष की झंझा का द्योतक है—सौवर्ण झंझा के रथ पर चढ़कर आता है—मैंने जीवनोपयोगी घन आध्यात्मिकता का मानवीकरण कर भावी मानवता का स्वरूप उपस्थित किया है। अपने काव्य रूपकों को मैं नाटक न कहकर कथोपकथन प्रधान श्रव्य काव्य ही की संज्ञा दूँगा।

"आत्मिका" शीर्षक इस संग्रह की अंतिम रचना में मैंने विगत युगों की आध्यात्मिकता का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। 'वाणी' की "बुद्ध के प्रति" नामक रचना में भी नवीन मूल्यों का प्रतिपादन मिलता है :

जड़ से चेतन, जीवन से मन, जग से ईश्वर को वियुक्त कर,
जिस चिन्तक ने भी युग दर्शन दिया भ्रांति वश जन मन दुस्तर
किया अमंगल उसने भू का, अर्ध सत्य का कर प्रतिपादन,
जड़ चेतन जीवन मन आत्मा एक, अखंड, अभेद्य, संचरण!
... ...

भू पर संस्कृत इंद्रिय जीवन मानव आत्मा को रे अभिभत,
ईश्वर को प्रिय नहीं विरागी, संन्यासी, जीवन से उपरत!
आत्मा को प्राणों से बिलगा अधिदर्शन ने की जग की क्षति,
ईश्वर के सँग विचरे मानव भू पर, अन्य न जीवन परिणति!

इस प्रकार अपनी अनेक रचनाओं में मैंने धार्मिक, सांप्रदायिक, दार्शनिक विचारों के आवर्तों से जीवनोपयोगी सिद्धांतों को उबारकर पाठकों के मन-क्षितिज में नवीन आध्यात्मिक शिखरों का सौन्दर्य चित्रित करने का प्रयत्न किया है, जो आने वाली मानवता की ऊँचाई, गहराई एवं व्यापकता का द्योतक है। मैंने

अपना जीवन दर्शन, युग की आवश्यकताओं एवं मानवता के विकास की संभावनाओं को सम्मुख रखकर, अनेक महान् ग्रंथों तथा महापुरुषों से प्रेरणा ग्रहण कर, उनके उपयोगी तत्त्वों को आत्मसात् कर, लोक-कल्याण एवं भू-मंगल की भावना के उद्देश्य से, अपने काव्य-पट में गुंफित करने का साहस किया है।

'स्वर्ण किरण' और 'उत्तरा' में कहीं-कहीं दीप्त लावण्य के स्थल आए हैं, जिनसे मेरे कुछ मित्रों तथा आलोचकों को आपत्ति है। विशेषतः, इसलिए कि उनकी संगति मेरे आध्यात्मिक काव्य के साथ नहीं बैठती। कवि दृष्टि निर्वैयक्तिक होती है, वह स्त्री-सौंदर्य को उपभोग के गुंठन में सुरक्षित रखने के बदले उसे व्यापक आनन्द के लिए वितरित कर देती है। यह आदि कवि वाल्मीकि काल से प्रचलित व्यास, कालिदास की परम्परा है, जिसके गवाक्ष से स्त्री-सौंदर्य पर मधुर प्रखर भावोष्ण प्रकाश पड़ता रहा है। स्त्री की शोभा पृथ्वी पर कला की पीठिका है, उसका शील—सदाचार और अध्यात्म का द्वार। मेरी दृष्टि में इसमें युग्म जीवन तथा सहजीवन के मूल्यों का प्रश्न भी निहित है, जिस पर नवीन युग की भूमिका पर अधिक व्यापक दृष्टि से विचार करना उचित होगा। भौतिक आध्यात्मिक मान्यताओं के अतिरिक्त मेरी इस काल की रचनाओं में रागात्मक मूल्यों का भी एक विशिष्ट तथा महत्त्वपूर्ण स्तर है। आने वाली संस्कृति के धरातल पर नारी-सौन्दर्य मानव जीवन के उन्नयन में बाधक न होकर सहायक ही होगा। तब नर-नारी का एक-दूसरे के प्रति सहज अनुराग का चंद्र यतियों की कृच्छ्र, जीवन विरत कल्पना के राहु से मुक्त हो सकेगा। भावी की प्रबुद्ध भावना के सम्मुख स्त्री देह को "चाम की तुच्छ थैली" के रूप में चित्रित करना लज्जाजनक प्रतीत होता है। कला देह-सौष्ठव के साथ कामना की अग्नि को भी सौन्दर्य-बोध तथा राग की लय में वेष्टित कर उज्ज्वल बना देती है, उससे उद्दीपन से अधिक आह्लाद और तृप्ति का ही अनुभव होना चाहिए।

वास्तव में सौन्दर्य-चित्रण से अधिक, राग भावना के प्रति जो मौलिक दृष्टि-कोण का प्रश्न है, उसी पर मैंने इस उत्थान की रचनाओं में अधिक प्रकाश डाला है। इस विषय पर, समय आने पर, अधिक गंभीर तथा रूढ़ि मुक्त विवेचना हो सकेगी। राग भावना को, स्वस्थ मानवता के स्तर पर, उन्मुक्त, परिणत तथा संस्कृत होना ही पड़ेगा। वैराग्यवाद तथा निषेध वर्जनाओं के आधार पर मानवता अथवा सामाजिकता से उसका उन्मूलन नहीं किया जा सकता। भावी पीढ़ियों को, मैं पिछले युगों का देह-बोध का भार वहन करते हुए, धूप और छाँह की तरह, दो अनमेल इकाइयों में विच्छिन्न नहीं देखना चाहता। यह मात्र भव्ययुगीन नैतिक दृष्टिकोण है जो स्त्री-संपर्क को आध्यात्मिकता का विरोधी मानता है। सच तो यह है कि पिछली आध्यात्मिकता तथा नैतिकता की धारणा ही खोखली, एकांगी तथा अवास्तविक रही है, जिसे स्त्री-स्पर्श तथा संपर्क उन्नत करने के बदले कलुषित, कर सका है। निश्चय ही, वह जीवनोन्मुखी अध्यात्म न होकर रिक्त, जीवन विरत तथा अप्राकृतिक अध्यात्म रहा है जिसका दूसरा छोर हमारा वाममार्गी, वज्रयानी,

साधना पथ, तथा पंडों, पुरोहितों और महंतों का धार्मिक जीवन रहा है। स्त्री-संसर्ग तथा उच्च धर्म संबंधी दृष्टिकोण में संभवतः अति प्राचीन काल में इसलिए विरोध रहा हो कि तब मनुष्य पहली बार पाशविकता तथा बर्बरता के जंगल से बाहर निकला था। अब भी, संभवतः, विशिष्ट परिस्थितियों में, धर्म और काम को विच्छिन्न करने की आवश्यकता पड़ सकती है, किन्तु विकसित सामाजिकता के लिए स्त्री-पुरुष का संतुलित संस्कृत रागात्मक सहजीवन अनिवार्य सत्य है, और बहुत संभव है, कभी वह विभिन्न इकाइयों में विभक्त गृहों की संकीर्ण देहलियों एवं प्रांगणों को लांघकर एक अधिक व्यापक विकसित धरातल पर आत्म संयमित स्वतः निर्देशित, शील-सौम्य मानवता में परिणत हो सकेगा।

क्षुधा काम के सामंजस्य का प्रश्न मानवता के सम्मुख महत्त्वपूर्ण तथा जटिल प्रश्न है। उदर क्षुधा के समाधान का प्रश्न यदि आज की राजनीति एवं अर्थनीति का प्रश्न है, तो युग्म भावना एवं रागात्मकता का प्रश्न कल की संस्कृति का प्रश्न है। क्षुधा काम तब देह और व्यक्ति के मूल्य न रहकर सामाजिकता तथा संस्कृति के मूल्यों, आत्मा तथा लोक-मंगल के मूल्यों में बदल जाएँगे। इंद्रिय विषयक मूल्य मनुष्य की पिछली बहिरंतर की सीमाओं से निर्धारित हैं; नैतिक मूल्यों तथा लोकाचार को बदलने से पहले हमें अपनी चेतना तथा मानस के अंचल को, जिसमें पिछले मूल्यों की छाप है, व्यापक, परिष्कृत रागभावना में डुबोकर प्रक्षालित कर लेना होगा। लोककर्म से संयमित रागात्मकता वैसे भी अंतः शुद्ध होगी, जब स्त्री-पुरुष तटस्थ, आत्मस्थ, मोह मुक्त, दो समांतर रेखाओं-से होंगे, और लोकमंगल के विकासशील लक्ष्य से प्रेरित होकर परस्पर संयुक्त रहेंगे।

यदि हम प्राण भावना के धरातल से अंतश्चैतन्य के शिखर की ओर देखें तो रति काम की अंतः शुद्ध स्थिति ही पार्वती परमेश्वर का रूप है, जो अतः प्रेम में संपृक्त है; और उन्हीं का बहिरंतर संतुलित सांस्कृतिक रूप कृषियुग की परिस्थितियों के अनुरूप, श्री सीताराम तथा राधाकृष्ण का युगल रूप अपने यहाँ है। स्त्री-पुरुषों के बीच रागात्मक सामंजस्य संस्कृति का मूल उपादान है। बैरागियों के दमन से युग्मेच्छा का संतुलित उन्नयन, संस्कृति की दृष्टि से, अधिक लोकोपयोगी एवं सौन्दर्य उर्वर है। ऐसे समाज की प्रतिष्ठा अवश्य ही अत्यन्त धैर्य, शील, सहिष्णुता तथा जागरूकता से ही पृथ्वी पर संभव है। आध्यात्मिक-लौकिक मूल्यों को परस्पर विरोधी पृथक् मूल्यों में विच्छिन्न करने का यही कारण है कि मानव राग भावना का अभी विकास या परिष्कार नहीं हो सका है। इसीलिए न हमारा गृह जीवन और सामाजिक जीवन ही संस्कृति की दृष्टि से पूर्ण बन सका है, न हमारे आश्रमों, तपोवनों तथा तीर्थस्थानों का जीवन ही वास्तविक अर्थ में भगवत् जीवन बन सका है; दोनों ही एकांगी, स्वर्ग (पुण्य) भीरु तथा धरा (पाप) भीत होकर पंगु, निष्क्रिय या अर्ध-सक्रिय, अपूर्ण तथा अक्षम ही रह गए हैं। न हमारे दिव्य जीवन की ही धारणा पूर्णता प्राप्त कर सकी है, न लौकिक जीवन की ही। पूर्णता प्राप्त करने के लिए हमें समग्र लोक-जीवन को ही रागात्मक विकास की उपयुक्त पीठिका

बनाना होगा। ये विचार मैं केवल भावी सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों के रूप में ही यहाँ दे रहा हूँ, जिन पर आधारित मानव जीवन आसक्ति मुक्त, राग शुद्ध, अंतः स्थित होकर, घृणा, उपेक्षा तथा कामद्वेष से रहित, व्यापक प्रेम में संगठित हो सकेगा। वास्तव में जिस भगवत् प्रेम को आज हम अंतःशुद्धि तथा यम नियमों के आधार पर मानसिक भावना के स्तर पर प्राप्त करना चाहते हैं वह हमें संस्कृत लोक जीवन के धरातल पर उपलब्ध होना चाहिए। श्रीकृष्ण की रासलीला तथा चैतन्य की भावलीला में हमें परिष्कृत भावना की आंशिक झाँकियाँ मिलती हैं।

'युगवाणी' की "राग साधना" कविता से लेकर 'वाणी' की "पुनर्मूल्यांकन" रचना तक मैंने अपनी अनेकानेक कृतियों में नव युग की इस अभीप्सा को वाणी दी है। "मानसी" नामक गीत रूपक में भी मैंने इसी भावना का विकास दिखाया है। और "स्वर्णोदय" में इस सत्य को इस प्रकार व्यक्त किया है :

क्यों मानव यौवन वसंत सा हो न लोक जीवन में कुसुमित
मधुर प्रीति हो सामाजिक सुख, प्राण भावना आत्म संयमित !
करें मुक्त उपभोग हृदय का नर नारी निज हृदि से प्रेरित,
आदर प्रीति विनय हो उर में, अंग लालसा का मुख संस्कृत !
हृदय तमस आलोक स्रोत पा हो जीवन सौन्दर्य में द्रवित,
प्राण कामना सृजन शील बन, धरा-स्वर्ग रचना में योजित !

राशात्मिका वृत्ति के परिष्कार को मैंने नव मानवता के निर्माण के लिए अनिवार्य मूल्य माना है। स्त्री-पुरुष संबंधी और समस्त मान्यताएँ तथा नैतिक सामाजिक दृष्टिकोण मुझे अपूर्ण, कृत्रिम, अव्यावहारिक, अस्वाभाविक तथा मानवता के अंतर्विकास के लिए घातक प्रतीत हुए हैं। यह प्रवृत्ति पथ नहीं, निवृत्ति पथ नहीं; निवृत्ति संतुलित, प्रीति संयमित प्रवृत्ति पथ है। इंद्रिय पथ कहीं, इंद्रिय मूल्यों पर आधारित शीलपथ है। मैं साधु संतों के तपोमय जीवन का प्रेमी हूँ, पर जीवन के अंतरतम वारियों में जो मुक्त अबाध व्यापक अनुराग की धारा बहती है उसी को मैं उपर्युक्त शील पथ के रूप में स्वस्थ लोक-जीवन-निर्माण के लिए प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिसका लक्ष्य भू-रचना तथा जनमंगल है।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर दूँ कि मेरा काव्य मुख्यतः आध्यात्मिक काव्य नहीं है, और, यदि है भी, तो प्राचीन रूढ़ अर्थ में नहीं, जिसमें आध्यात्म वैराग्य के सोपान पर, अन्न, प्राण मन की श्रेणियों को पार कर, केवल ऊर्ध्व मुख चिदाकाश की ओर आरोहण करता है। मेरे द्वितीय उत्थान के काव्य के लिए उपयुक्त संज्ञा होगी, नवीन चेतना काव्य, जिसके अंतर्गत मानव जीवन मन के उच्च एवं समष्टिक् दोनों स्तरों की संस्कृत, संतुलित, व्यापक सामाजिकता तथा नव मानवता के तत्त्व वर्तमान हैं। मेरी काव्य चेतना मुख्यतः नवीन संस्कृति की चेतना है, जिसमें आध्यात्मिकता तथा भौतिकता का नवीन मनुष्यत्व के धरातल पर संयोजन है। मेरा काव्य प्रथमतः इस युग के महान् संघर्ष का काव्य है। जो लोग युग संघर्ष को वर्ग संघर्ष तक ही

सीमित रखकर उसे केवल बाहरी आर्थिक राजनीतिक स्तरों पर ही देख सकते हैं, उनकी बात मैं नहीं करता, अन्यथा 'युगवाणी' से 'वाणी' तक मेरा समस्त काव्य युग मानस एवं नव मानव के अंतरतम संघर्ष का काव्य है। मेरी काव्य चेतना केवल मध्ययुगीन नैतिक बौद्धिक अंधकार तथा जीवन के प्रति तद्-जनित सीमित दृष्टिकोण से ही नहीं संघर्ष करती रही, वह भावी मानवता के पथ के बहिरंतर के दुर्गम अवरोधों से भी निरंतर जूझती रही है। आज के विराट् मानवीय संघर्ष को वर्ग संघर्ष तक ही सीमित करना विगत युगों की खंड चेतना तथा ऐतिहासिक अंधकार की एक हिंस्र प्रतिक्रिया मात्र है। दूसरे शब्दों में, मेरा काव्य भू-जीवन, लोक-मंगल तथा मानव मूल्यों का काव्य है, जिसमें मनुष्यत्व और लोक-मंगल दो भिन्न तत्त्व नहीं, एक-दूसरे के गुण राशि वाचक पर्याय है। वैसे तुलसी रामायण भी लोक-मंगल का काव्य है, पर वह मुख्यतः आध्यात्मिक काव्य और धर्मग्रंथ है; जिसमें लोक जीवन सत्ता और भगवत् सत्ता दो पृथक् मूल्यों में विभक्त हैं। उसमें श्रद्धा भक्ति से मानस अजिर उज्वल रखने तथा नाम कीर्तन, आराधना द्वारा अपवर्ग तथा मोक्ष-प्राप्ति का संदेश निहित है। मेरे चेतना काव्य में नवीन भू-जीवन तथा भगवत् जीवन "सियाराम मय सब जग जानी" के भावनात्मक अर्थ में ही नहीं, इससे भी व्यापक अर्थ में, अभिन्न सत्ता है। उसमें भगवत्-प्रेम जीवन-मुक्ति का नहीं, जीवन-रचना-मंगल का उपादान है। तपःपूत व्यक्ति का मन ईश्वर का मंदिर है, इस पर अधिक बल न देकर मैंने संयुक्त, संस्कृत, बहिरंतर, संयोजित सामाजिक जीवन ही भगवत् चेतना की मूर्त पीठ है और उन्नत लोक-जीवन-रचना ही भगवत् सान्निध्य प्राप्ति का साधन है, इसको अधिक महत्त्व दिया है। भू-जीवन तथा भगवत् जीवन के मध्य मुझे किसी प्रकार का ज्ञान वैराग्य जनित आध्यात्मिक व्यवधान अभिप्रेत नहीं है, तथा संस्कृत मानव-जीवन एवं उन्नत भू-रचना के अतिरिक्त मुझे आध्यात्मिकता के लिए अन्य उपकरण उतने मूल्यवान नहीं प्रतीत होते। आध्यात्मिक दृष्टिकोण के प्रति यह मौलिक अंतर मेरी रचनाओं में ध्यान देने योग्य है। विकसित, परिपूर्ण, लोक जीवन ही भगवत् पूजन का प्रतीक हो, मुझे यह अधिक स्वाभाविक लगता है। इस संबंध में मुझे 'उत्तरा' की कुछ पंक्तियाँ स्मरण आ रही हैं :

> आज व्यक्ति के उतरो भीतर, निखिल विश्व में बिचरो बाहर
> कर्म वचन मन जन के उठकर बनें युक्त आराधन !
> ... ...
> जगतीं मानव में देवोत्तर मिट्टी की प्रतिमाएँ नश्वर,
> युग प्रभात छवि स्नात निखरते सू जनपद, पुर, प्रांतर।

धरती के जीवन से भगवत् सत्ता को पृथक् कर, लोक मानवता के बदले किसी कल्पना या सिद्धि के मनःस्वर्ग में, ध्यान धारणा के शिखर पर, ईश्वर साक्षात्कार की भावना को सीमित करना, भविष्य की दृष्टि से, मुझे कृत्रिम और अस्वाभाविक

लगता है। इससे मानव जीवन का हित होने के बदले उसकी उपेक्षा एवं अहित ही हुआ है। एक ही अखंड सत्य की सत्ता पारलौकिक ऐहिक रूपों में विभक्त हो गई है। मध्ययुग की समस्त नैतिकता और सदाचार के मानदंड तथा भगवत् संबंधी ज्ञान, आध्यात्मिक मान्यताएँ और विचारधाराएँ इसका उदाहरण हैं। भौतिक आध्यात्मिक संचरणों का परस्पर विरोधी समझे जाने का भी यही कारण है, क्योंकि समतल जीवन की उपेक्षा के कारण ऊर्ध्व के साथ उसका संयोजन नहीं किया जा सका। यह सच होने पर भी, हमें मध्ययुगीन विचारकों, दार्शनिकों, संतों तथा कवियों के प्रति कृतज्ञ रहना चाहिए, जिन्होंने उस घोर सांस्कृतिक विघटन, ह्रास की कुहू में, जीवन नैराश्य तथा धरती के अंधकार से निरंतर संघर्ष कर, हमारे भीतर किसी-न-किसी रूप में, सत्य की ज्योति को प्रज्वलित रखा है। किन्तु नवीन युग को इस जड़ धरती के जीवन को ही उच्च विकास की उपयुक्त पीठिका बनाना है। विज्ञान और धर्म को भविष्य में नव मानवता के रूप में संयोजित होना है।

ईश्वर के संग विचरे मानव भू पर,
अन्य न जीवन परिणति।

हमारी अनेक ऊर्ध्व (आध्यात्मिक) मान्यताएँ इसलिए भी रहस्य में खोई हुई आकाश कुसुम-सी लगती हैं कि वे समष्टिक् लौकिक जीवन से विच्छिन्न तथा असंयोजित रहने के कारण उच्च सिद्धांतों के सूक्ष्म धरातल पर भी ठीक से ग्रहण नहीं की जा सकी हैं। इसलिए, एक दृष्टि से, पुरानी दुनिया का अध्यात्म तथा ईश्वर बोध, अधिकतर कल्पना में ही लिपटा हुआ रह गया है। मेरी दृष्टि में भू-जीवन को भगवत् जीवन बनाने के लिए हमें कहीं ऊपर नहीं खो जाना है, प्रत्युत् जीवन आकांक्षाओं का पुनर्मूल्यांकन कर विगत मूल्यों को अधिक व्यापक बनाना है। निश्चय ही जो आध्यात्मिकता मानव जीवन के रक्तमांस के उपादानों का बहिष्कार या अवहेलना कर किसी उच्च जीवन की कल्पना करती है वह जीवन-मंगल की द्योतक नहीं हो सकती। मुझे यह अनुभूति 'युगवाणी-ग्राम्या' काल ही में हो चुकी थी। 'युगवाणी' की "मानव पशु", "जीवन तम", "राग", "रागसाधना" तथा "जीवन मांस" आदि रचनाएँ मेरी इसी अनुभव की द्योतक हैं, "ईश्वर है यह मांस, पूर्ण यह!" या "रूपमांस है अमर प्रकाश!" कहकर मैंने 'युगवाणी' में रूप-मांस अर्थात् संस्कृति रूढ़ जीवन ही को भगवत् प्रकाश का मूल उपादान बतलाया है।

जैसा कि ऊपर कह चुका हूँ, मैं आध्यात्मिकता के विकास को सामाजिक जीवन से पृथक्, नैराश्य के मनोहर शील मंदिर में रहकर, संभव नहीं मानता। वह तो पुरानी आध्यात्मिकता है जिसने भगवत् चेतना को जीवन में प्रतिष्ठित करने के बदले 'भूमेर्यद् भूमेर्द् विज्ञिन्य भीता' कहकर, अंतरंगम में उसके अमृत प्रकाश का दर्शन पाकर संतोष कर लिया। जगत् का सृष्टि के मूल में जो ईश्वर या भागवत चेतना है उसे विकास क्रम में मनुष्य के सामाजिक जीवन एवं विश्व जीवन में मूर्त होता ही चाहिए। यही मेरी दृष्टि में आज भागवत

साक्षात्कार है,—ईश्वरत्व को जीवन की वास्तविकता प्रदान करना; और सब चाहे सबे ही ईश्वर बोध हो। भागवत् साक्षात्कार मेरे चेतना काव्य में एक नवीं विकासशील सामाजिक प्रणाली है। दूसरा यह कि इंद्रिय जीवन तथा भागवत जीवन में विरोध मानना, मेरी दृष्टि में, भ्रम है; संस्कृत संतुलित इंद्रिय जीवन में ही—जो अंततः सामूहिक या सामाजिक स्तर पर ही पूर्णतः संभव हो सकता है—केवल भागवत जीवन का साक्षात्कार किया जा सकता है। उपनिषदों का "प्रत्यगाच्छुक्रमकायमव्रणं" ब्रह्म सत्य है; वह जीवन चेतना का अंतरतम या ऊर्ध्वतम, सूक्ष्मातिपर, शाश्वत, अतिचेतन स्तर है। किन्तु पदार्थ, प्राण और मन की भूमिका का परित्याग कर उसे प्राप्त करने या आत्ममुक्ति के अनुसंधान में उसकी ओर जाने का प्रश्न मध्ययुगीन ध्येय या आदर्श का प्रश्न रहा है। हमारा युग-सत्य है जगत् जीवन और भू-क्षेत्र को ही ब्रह्म की मूर्तिमान वास्तविकता में परिणत करना। ऐसे अंतःसंगठित जीवन में निःसंदेह राग द्वेष, लोभ मोह, क्रोध अहंकार आदि की उपयोगिता नहीं रहेगी;—जोकि विकास पथ के स्थूल और क्रूर साधन रहे हैं,—और रागवृत्ति भी परिष्कृत होकर आनन्द, सौन्दर्य, प्रेम, शांति तथा सहज व्यापक पवित्रता में परिणत हो जाएगी। जिस सीमित नैतिक या धार्मिक अर्थ में पवित्रता का प्रयोग होता है, उस अर्थ में नहीं,—जीवन का व्यापक संचरण ही अपनी समग्रता में अंतः संतुलित होकर मन में पवित्रता का उद्रेक करेगा; पवित्रता के अर्थ में अधिक घनत्व या वास्तविकता आ जाएगी। जैसा मैंने 'ज्योत्स्ना' में भी प्रतिपादित किया है, आनंद, सौन्दर्य, प्रेम, शांति आदि उस सृजन चेतना के मौलिक मूलभूत गुण हैं जो सृष्टितत्त्व में अभिव्यक्त हुई है, और मानव जगत को उसी सत्य का दर्पण बनाना है। यही एकमात्र सभ्यता, संस्कृति तथा धर्मों का अनादिकाल से प्रश्न और लक्ष्य रहा है। इतिहास के उत्थान-पतन तो मानव-समाजों के अपने अंतःसत्य के अपरिचय तथा ब्रह्मांड के अंतःस्वरूप के अज्ञान तथा उन्नत जीवन साधना के अभाव के कारण, विकास क्रम की श्रांति, क्लांति उद्वेग-जनित, अश्रुस्वेद-रक्तमय, बाहरी वास्तविकता के छिलके भर हैं।

मेरी प्रेरणा के स्रोत, निस्संदेह मेरे ही भीतर रहे हैं, जिन्हें युग की वास्तविकता ने सींच कर समृद्ध बनाया है। मैंने अपने अंतर के प्रकाश में ही बाह्य प्रभावों को ग्रहण कर आत्मसात् किया है। मैं अत्यन्त विनम्रतापूर्वक अपने समस्त प्रेरकों, शिक्षकों तथा अग्रिमभावकों के प्रति अनन्य हृदय से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिनके संपर्क में आकर मैं कुछ सीख सका हूँ। मैं न दार्शनिक हूँ, न दर्शनज्ञ हूँ; न मेरा अंततः ही कोई दर्शन है, और न मुझे यही लगता है कि दर्शन द्वारा मनुष्य को सत्य की उपलब्धि हो सकती है। ये केवल मेरे कवि मन के प्रकाश स्फुरण प्ररोह हैं जिन्हें मैंने अपनी रचनाओं में शब्द-मूर्त करने का प्रयत्न किया है। अपनी भावना तथा कल्पना के पंखों से मैं जिन सौन्दर्य स्थितियों को छू सका हूँ वे मुझे दार्शनिक मन्तव्यों से अधिक प्रकाशवान एवं सजीव लगते हैं। दर्शन ग्रन्थों तथा महापुरुषों के वचनों में अपनी भावात्मक उपलब्धियों का समर्थन पाकर मैं आश्वस्त हुआ हूँ

और मुझे उससे मनोबल भी प्राप्त हुआ है। मेरे काव्य दर्शन की कुंजी निश्चय ही 'ज्योत्स्ना' में है। उसी के भौतिक संचरण का विकास मेरे मन में मार्क्सवाद के ज्ञान से हुआ, जिससे मैं अपनी भौतिक जीवन संबंधी धारणा को व्यापकता, शब्दार्थ संगति तथा वैज्ञानिक रूप दे सका। 'ज्योत्स्ना' का चेतनात्मक संचरण मेरी उत्तर रचनाओं में पूर्व-पश्चिम के दर्शनों तथा विचारधाराओं के अध्ययन मनन तथा गांधीजी और श्री अरविंद के महत् संपर्क में आने से प्रस्फुटित तथा विकसित हुआ है। सामूहिक जीवन निर्माण के लिए गांधीजी का सक्रिय अहिंसा का सांस्कृतिक राजस दान नव मानवता के अमूल्य उपादानों में रहेगा। 'युगांतर' में मैंने गांधीजी को इन शब्दों में स्मरण किया है :

> आत्म दान से लोक सत्य को दे नव जीवन
> नव संस्कृति की शिला रख नए भू पर चेतन !
> ... ...
> आओ, उनकी अक्षय स्मृति को नींव बनाएँ
> उस पर संस्कृति का लोकोत्तर भवन उठाएँ।
> स्वर्ण शुभ्र धर सत्य कलश स्वर्गोच्च शिखर पर
> विश्व प्रेम में खोल अहिंसा के गवाक्ष वर !

'वाणी' में श्री अरविंद को नव युग सारथि के रूप में मैंने इस प्रकार श्रद्धांजलि दी है :

> सारथि श्री अरविन्द रहे तब ऐसे भगवत् द्रष्टा भू पर
> विश्व ग्लानि कर गए विलय जो अति मानस से धर्म हानि भर !
> प्रातः रवि सा स्फुरत् रश्मि स्मित था भगवत् चैतन्य तपोज्वल
> भू मानस में पूर्ण प्रस्फुटित अंतः स्वर्णिम हो सहस्रदल !

मैंने अपनी काव्य चेतना में अन्न प्राण मन के विकसित, संस्कृत जीवन से विच्छिन्न किसी उच्च जीवन की कल्पना को स्वीकार नहीं किया है। एक तो वह लोक जीवन एवं सामाजिकता की दृष्टि से संभव नहीं, दूसरा वह इंद्रिय संस्कारों की परिणति, उनकी मौलिक चेतनाओं की क्रियाओं को अग्राह्य कर, संभव बनाती है। मुझे उन्नत इंद्रिय जीवन अदिव्य तथा अमानव नहीं लगता है, भागवत चेतना ही इंद्रियों में प्रशोधित प्रतीत होती है। इस भावना को व्यक्त किया है :

> मैं उपकूल इंद्रियों, रूप रस गंध स्पर्श स्वर
> लीला द्वार खुले अनंत के बाहर भीतर :
> अप्सरियों से दीपित सुरधनुओं से अंबर,
> निज असीम छोरों में तुल पर व्योमछावर !

आत्म मुक्ति के लिए क्या अमित यह ग्रह ग्रथित रंग भव सर्जित
प्रकृति इंद्रियों का दे वैभव, मानव तप कर मुक्त बने नित !
नहीं संत कुल हुआ संत रे, जीव प्रकृति के सब जन निश्चित,
लोक मुक्ति ही ध्येय प्रकृति का, मनुज करे जग जीवन निर्मित !

मैं पूर्ण विकसित लोक जीवन के ही रूप में, मुख्यतः, भगवत् सत्ता या चेतना का मूर्त विकास संभव मानता हूँ। महापुरुषों, सिद्धों, योगियों तथा विशिष्ट व्यक्तियों में भी भगवत् चेतना के विशेष रूपों तथा गुणों की पूर्ण या आंशिक अभिव्यक्ति हो सकती है, और वह सामूहिक उपलब्धि के स्तर से, एक प्रकार से, अधिक सूक्ष्म, उच्च और पूर्ण भी हो सकती है। पर मैंने इस युग में अधिक महत्त्व भू-जीवन की उन्नत मंगल रचना को ही देना उचित समझा है, जिसमें व्यापक से व्यापक अर्थ में भागवत गुणों का अवतरण एवं भागवत वास्तविकता का साक्षात्कार संभव हो सकता है। 'ज्योत्स्ना' के अंतिम दृश्य में, नव युग प्रभात के रूप में, मैंने, भू-जीवन के स्तर पर नवीन, चेतना के इसी सत्य की परिणति दिखलाई है। मैं अब भी यही सोचता हूँ कि समस्त ज्ञान विज्ञान, अर्थ तंत्र आदि का संचय एवं उपयोग नव मानवता के लिए धरा-स्वर्ग की शुभ रचना करने ही में सार्थकता प्राप्त कर सकता है। मात्र सैद्धांतिक शुभ से रचना-शुभ अधिक वास्तविक तथा संपूर्ण है; उसी में एक भाव शतक पीढ़ियों में व्याप्त मानव जीवन के अमरत्व की चरितार्थता है। यह जैसे आँख खोलकर ईश्वर का ध्यान अथवा भगवत् सत्ता का साक्षात्कार करना है। निश्चय ही, इंद्रियगोचर होने से परात्पर या इंद्रियातीत सीमित नहीं हो जाता, न उसमें अंतर या भेद ही आता है। सूक्ष्म और स्थूल दोनों ही आंशिक सत्य हैं, उनसे पूर्ण सत्य है सूक्ष्म-स्थूल का सामंजस्य। आज जो अंतर्दृष्टि या ऊर्ध्व स्तर का सत्य है वह कल बहिर्दृष्टि के समतल पर भी सुलभ हो सकेगा।

ऐसा अवश्य है कि वर्तमान विकास की स्थिति में, विशेष ज्ञान संस्थानों तथा आश्रमों में, हमें विशिष्ट उच्चतम मान्यताओं के आधार पर, अंतर्मन तथा अंतर्जीवन के संगठन-संयोजन के लिए, ऊर्ध्वतम आध्यात्मिक साधना की आवश्यकता पड़ेगी, जहाँ हम भागवत करुणा के संपर्क में आकर अंतश्चेतन के आलोक तथा अंतर्वैज्ञानिक सिद्धियों के द्वारा लोक जीवन के विकास पक्ष की बाधाओं तथा व्यवधानों को हटाने, मानस ग्रंथियों को सुलझाने, एवं विश्व जीवन का उन्नयन करने में सफल हो सकेंगे। ऐसे तपोवन तथा साधना द्वार हमारे देश की विशेषता रहे हैं। वे सदैव हमारी श्रद्धा भक्ति के पवित्र पथ-प्रदर्शक केन्द्र और हमारी चेतना विषयक उच्च प्रयोगशालाएं रहेंगे, जहाँ से हमें शांति, पवित्रता, आनंद, भगवत् प्रेम, आलोक, कल्याण, सद्भावनाओं तथा सद्विचारों का अक्षय दान प्राप्त होता रहेगा। जैसा मैंने 'उत्तरा' की भूमिका में भी लिखा है हमारा देश अंतर्जगत का सिद्ध वैज्ञानिक है। तुझे गंगा तट पर, जो भस्म रमाए हुए, जटाधारी साधु, एक हाथ ऊपर उठाए, या लोहे की प्रखर शलाकाओं पर लेटे मिलते हैं, उन्हें भी मेरा मन अपने देश के देह-मन के सत्य संबंधी प्रवंचनाओं के ही

रूप में देखता है, जिसकी उपलब्धि हम अब अधिक श्रेष्ठ साधनों से कर सकते हैं। ऐसे अनेक प्रकार के साधुओं के संप्रदाय आज प्राचीन प्रारंभिक पद्धतियों के अवशिष्ट स्मृति चिह्न तथा "उदर निमित्तं बहुकृत वेषः," आदिम पाखंड-मात्र रह गए हैं।

आज के संघर्ष और संहार के युग में मेरे उपर्युक्त विचार तथा मान्यताएँ आधुनिक यथार्थवादियों को स्वप्न-कल्पित अतिरंजनाएँ मात्र प्रतीत हो सकती हैं। किन्तु आज के पक्षधर आलोचक की यथार्थवाद की धारणाओं पर तथा पूर्वग्रहों में खंडित और विभक्त पाठकों की रुचियों के निर्णयों पर निर्भर रहकर मेरा जैसा "तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरं" अल्पमति कवि सृजन कर्म नहीं कर सकता। उसे नवीन मानवता के प्रति श्रद्धा तथा भगवत् करुणा पर विश्वास रखकर अपनी अंतरतम अनुभूतियों, प्रेरणाओं एवं प्रकाश पर ही अवलंबित रहना पड़ेगा। वर्तमान के संघर्ष और संहार की विभीषिका से भी अधिक महत् तथा शक्तिमय जो अमृतत्व का सागर आज संवेदनशील हृदयों के भीतर नवीन चेतना ज्वारों में उठकर मानव अंतर के नव जीवन बोध के स्तरों को स्पर्श कर रहा है, उसका मंगल संदेश कैसे भुलाया जा सकता है? आज के भू-व्यापी संघर्ष, विरोध, अनास्था, निराशा, विषाद तथा संहार की यही वास्तविकता है कि वह मानव समाज को नवीन मान्यताओं के क्षितिजों, नवीन जीवन-बोध के धरातलों तथा महत्तर सामंजस्य की भूमिकाओं की ओर अग्रसर कर रहा है। निस्संदेह, अकल्पनीय सिद्धियों तथा महान् विनिमयों का है हमारा युग। आज के विज्ञान, दर्शन और सृजन प्रेरणा का श्रेय उसी को है।

इस युग के विक्षोभ का मुख्य कारण है मानव जीवन के ऊर्ध्व तथा समतल संचरणों में सामंजस्य अथवा संतुलन का अभाव। आज हमें भूत-अध्यात्म, यथार्थ-आदर्श संबंधी अपनी पिछली धारणाओं को अधिक व्यापक बनाकर उन्हें एक-दूसरे के निकट लाना है। यथार्थ अथवा आदर्श के व्यापक सत्य के बारे में या तो हम मध्ययुगीन अभावों एवं निषेधों के कुहासों के पार न देख पाने के कारण उदासीन हैं, या पश्चिम के अंध अनुकरण के कारण बाह्य युग-जीवन के अंधकार में भटक गए हैं। आज के बड़े राष्ट्रों को, जो भू जीवन के विकास तथा उन्नयन को अवरुद्ध किए हुए हैं, वैज्ञानिक चेतना या मानवीय जीवन यथार्थ का प्रतिभू मानना हमारा भ्रम है। वे अभी बरती की प्राचीन ऐतिहासिक बर्बरता ही का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं और विज्ञान को जीवन-निर्माण या मनोविकास का माध्यम बनाने के बदले, उसके धुंओं के ताप में आणविक डिम्बों एवं विनाश के विस्फोटकों को लेकर, अपनी ऋण-सामर्थ्य का नग्न प्रदर्शन कर रहे हैं। जिस प्रकार कभी भारतवर्ष अपनी आध्यात्मिक शक्ति के सम्मोहन से दिग्भ्रांत हो गया था, उसी प्रकार आज के शिखर-राष्ट्र भौतिक क्षमता से मदोन्मत्त हो विश्व जीवन एवं मानवता को विनाश की ओर ले जाने की स्पर्धा कर रहे हैं। मुझे मानव चेतना पर विश्वास है; वह इस अणु संहार के नृशंस हिंस्र नाटक को अवश्य ही नवीन निर्माण तथा रचना मंगल की दिशा एवं भूमिका देकर मानवता की प्रगति का द्वार उन्मुक्त कर सकेगी।

जो नवीन प्रकाश मनुष्य के मनःक्षितिज में उदय हो रहा है उसी के आलोक में नवीन मानवता का निर्माण भविष्य में संभव है। आज की बौनी, खंडित, अपर्याप्त मान्यताओं से सचमुच ही आने वाले मनुष्य का काम नहीं चल सकेगा, चाहे वह चंद्रलोक में रहे या मंगललोक में। 'दाभी' में मैंने प्रश्न किया है :

चंद्रकलश प्रासाद रचोगे तुम दिग्विस्तृत ?
कैसा होगा वहाँ भाव ऐश्वर्य अखंडित ?
कैसा नव चैतन्य ? मानसी भूति अपरिमित ?
कैसा संस्कृत जन जीवन सौन्दर्य अकल्पित ?
अणु बम वहाँ बनाएँगे क्या सभ्य शिष्ट नर ?
शीत युद्ध से कंपित कर शंकित भू पंजर ? इत्यादि

आज के युग का संदेह, अविश्वास, जीवन संघर्ष, विनाश के साधन, बाहरी भीतरी क्रांतियाँ—अर्थ शक्ति संचय, ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियाँ तथा अप्रतिहत साहस इसी महत् निर्माण, विकास तथा मानवता के आमूल रूपांतरों के अग्रदूत हैं—इनका कोई दूसरा अर्थ नहीं हो सकता। मनुष्य के अंतःकरण में जो अपापविद्ध, स्वयंशुद्ध, शाश्वत अमृतत्त्व है उसकी अन्य क्या सार्थकता या परिणति हो सकती है ? मानव जीवन की, युगों के अंधकार एवं नैतिक संकीर्णता की कलंक कालिमा से सनी चेतना की चादर को—जिसे कबीर जतन से ओढ़कर ज्यों-की-त्यों रख गए थे—नवीन प्रकाश के जल में डुबोकर, उसे संस्कृति के व्यापक मूल्यों की स्वच्छ शोभा प्रदान कर, हमें सब के ओढ़ने योग्य बनाना होगा। नहीं तो अंतरिक्ष के दीप्त ग्रहों में मन के इस अंधकार को ले जाने से क्या लाभ हो सकता है ? आज के युग का प्रश्न केवल भारतीय या एकदेशीय आध्यात्मिकता या संस्कृति का नया संस्करण प्रस्तुत करना नहीं है, जैसा मध्ययुगों में रहा है, आज समस्त मानवता तथा विश्व-जीवन को एक सक्रिय, जीवनोपयोगी, आध्यात्मिक चेतना तथा सांस्कृतिक पीठिका प्रदान करना है। आने वाला मानव निश्चय ही न पूर्व का होगा, न पश्चिम का। वह देशों (दिशा) की सीमाओं एवं विभेदों को अतिक्रम कर काल के शिखर की ओर आरोहण करने को उत्सुक होगा। आज की बाह्य वास्तविकता की बौनी विकृतियों से मुक्त, उसके भीतर, एक अंतर-वास्तविकता एवं अंतश्चेतना का उदय तथा विकास होगा। वह विज्ञान को अपना उपयुक्त वाहन बना सकेगा। वही, काल के हृदय कमल में स्थित, कालविद्, अत्याधुनिक मानव होगा—जिसे धारण कर धरती सूर्य की परिक्रमा करने में गौरव का अनुभव करेगी। इस मानव को संबोधित कर, "बुद्ध के प्रति" रचना की अंतिम प्रार्थना उद्धृत करता हूँ :

आओ, शांत, कांत, वर, सुंदर, धरो धरा पर स्वर्ण युग चरण !
बिखरो नव युग पांथ, बुद्ध बन, जन मन मन करता अभिवादन !
अणु रचना के भूति-मंच पर हो सुखांत मानव युग का रण,
तुमसे नव मानुष्य स्पर्श पा विष हो अमृत, मृत्यु नव जीवन !

अंत में, इस भूमिका के रूप में प्रस्तुत अपने विचारों, विश्वासों तथा जीवन मान्यताओं की त्रुटियों एवं कमियों के संबंध में पाठकों से क्षमा प्रार्थना करते हुए, अपनी द्वितीय उत्थान की सृजन चेतना के चरण-चिह्नों को यहीं समय के बालू पर छोड़कर, नवीन रचना भूमिका में प्रवेश करने के उत्साह में, मैं अपने अतीत के इन स्वप्न भार नत संस्मरणों से विदा लेता हूँ :

स्वस्ति, चेतना काव्य के काल,
रजत मानस के स्वर्ण मराल,
रश्मि दीपित कवि भाल !

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी
६ सितम्बर, १९५८

सुमित्रानंदन पंत

बापू

किन तत्त्वों से गढ़ जाओगे तुम भावी मानव को ?
किस प्रकाश से भर जाओगे इस समरोन्मुख भव को ?
सत्य अहिंसा से आलोकित होगा मानव का मन ?
अमर प्रेम का मधुर स्वर्ग बन जाएगा जग जीवन ?
आत्मा की महिमा से मंडित होगी नव मानवता ?
प्रेम शक्ति से चिर निरस्त हो जाएगी पाशवता ?

बापू ! तुमसे सुन आत्मा का तेजराशि आह्वान
हँस उठते हैं रोम हर्ष से, पुलकित होते प्राण !
भूतवाद उस धरा स्वर्ग के लिए मात्र सोपान,
जहाँ आत्म दर्शन अनादि से समासीन अम्लान !
नहीं जानता, युग विवर्त में होगा कितना जन क्षय,
पर, मनुष्य को सत्य अहिंसा इष्ट रहेंगे निश्चय !
नव संस्कृति के दूत ! देवताओं का करने कार्य
मानव आत्मा को उबारने आए तुम अनिवार्य !

नव दृष्टि

खुल गए छंद के बंध,
प्रास के रजत पाश,
अब गीत मुक्त,
औ' युग वाणी बहती अयास !
बन गए कलात्मक भाव
जगत के रूप नाम,
जीवन संघर्षण देता सुख,
लगता ललाम !

सुन्दर, शिव, सत्य
कला के कल्पित माप-मान
बन गए स्थूल,
जग जीवन से हो एकप्राण !

मानव स्वभाव ही
बन मानव-आदर्श मुकुर
करता अपूर्ण को पूर्ण,
असुंदर को सुंदर !

युग उपकरण

वह जीवित संगीत, लीन हो जिसमें जग जीवन संघर्ष,
वह आदर्श, मनुज स्वभाव ही जिसका दोष-शुद्ध निष्कर्ष !
वह अन्तःसौन्दर्य, सहन कर सके बाह्य वैरूप्य विरोध,
सक्रिय अनुकंपा, न घृणा का करे घृणा से जो परिशोध !

नम्र शक्ति वह, जो सहिष्णु हो, निर्बल को बल करे प्रदान,
मूर्त प्रेम, मानव मानव हों जिसके लिए अभिन्न, समान,
वह पवित्रता, जगती के कलुषों से जो न रहे संत्रस्त,
वह सुख, जो सर्वत्र सभी के सुख के लिए रहे संन्यस्त !

ललित कला, कुत्सित कुरूप जग का जो रूप करे निर्माण,
वह दर्शन-विज्ञान, मनुजता का हो जिससे चिर कल्याण !
वह संस्कृति, नव मानवता का जिसमें विकसित भव्य स्वरूप,
वह विश्वास, सुदुस्तर भव सागर में जो चिर ज्योति स्तूप !

रीति नीति, जो विश्व प्रगति में बनें नहीं जड़ बंधन पाश,
—ऐसे उपकरणों से हो भव मानवता का पूर्ण विकास !

नव संस्कृति

भाव कर्म में जहाँ साम्य हो संतत,
जग जीवन में हों विचार जन के रत !
ज्ञान-वृद्ध, निष्क्रिय न जहाँ मानव मन,
मृत आदर्श न बंधन, सक्रिय जीवन !
रूढ़ि रीतियाँ जहाँ न हों आराधित,
श्रेणि वर्ग में मानव नहीं विभाजित !
धन बल से हो जहाँ न जन श्रम शोषण,
पूरित भव जीवन के निखिल प्रयोजन !

जहाँ दैन्य जर्जर, अभाव ज्वर पीड़ित
जीवन यापन हो न मनुज को गर्हित !

युग युग के छाया भावों से त्रासित,
मानव मन प्रति मानव हो न सशंकित !
मुक्त जहाँ मन की गति, जीवन में रति,
नव मानवता में जन जीवन परिणति !
संस्कृत वाणी, भाव, कर्म, संस्कृत मन,
सुंदर हों जन वास, वसन, सुंदर तन !
—ऐसा स्वर्ग धरा में हो समुपस्थित,
नव मानव संस्कृति किरणों से ज्योतित !

पुण्य प्रसू

ताक रहे हो गगन ?
मृत्यु - नीलिमा - गहन गगन ?
अनिमेष, अचितवन, काल-नयन—
निःस्पंद, शून्य, निर्जन, निःस्वन !

देखो भू को !
जीव प्रसू को !
दूरित भरित
पल्लवित मर्मरित
कुंजित गुंजित
कुसुमित
भू को !

कोमल
चंचल
शाद्वल
अंचल,—
कल कल
छल छल
चल-जल-निर्मल,—

कुसुम खचित
मारुत सुरभित
खग कुल कूजित
प्रिय पशु मुखरित—
जिस पर अंकित

सुर मुनि वंदित
मानव पद तल !
देखो भू को
स्वर्गिक भू को,
मानव पुण्य-प्रसू को !

चींटी

चींटी को देखा ?
वह सरल, विरल, काली रेखा
तम के तागे सी जो हिल डुल
चलती लघुपद पल पल मिल जुल
वह है पिपीलिका पाँति !
देखो ना, किस भाँति
काम करती वह संतत !
कन-कन कनके चुनती अविरत !

गाय चराती,
धूप खिलाती,
बच्चों की निगरानी करती,
लड़ती, अरि से तनिक न डरती,
दल के दल सेना सँवारती,
घर आँगन, जनपथ बुहारती !

देखो वह वल्मीकि सुघर,
उसके भीतर हैं दुर्ग, नगर !
अद्भुत उसकी निर्माण कला,
कोई शिल्पी क्या कहे भला !
उसमें हैं सौध, धाम, जनपथ,
आँगन, गो-गृह, भंडार अकथ,
हैं डिम्ब-सदा, वर शिविर रचित,
ड्योढ़ी बहु, राजमार्ग विस्तृत !
चींटी है प्राणी सामाजिक,
वह श्रमजीवी, वह सुनागरिक !

देखा चींटी को ?
उसके जी को ?

भूरे बालों की सी कतरन,
छिपा नहीं जिसका छोटापन,
वह समस्त पृथ्वी पर निर्भय
विचरण करती, श्रम में तन्मय,
वह जीवन की चिनगी अक्षय !

वह भी क्या देही है, तिल सी ?
प्राणों की रिलमिल झिलमिल सी !
दिन भर में वह मीलों चलती,
अथक, कार्य से कभी न टलती,
वह भी क्या शरीर से रहती ?
वह कण, अणु, परमाणु ?
चिर सक्रिय, वह नहीं स्थाणु !

हा मानव !
देह तुम्हारे ही है, रे शव !
तन की चिन्ता में घुल निशिदिन
देह मात्र रह गए, दबा तिन !

प्राणि प्रवर
हो गए निछावर
अचिर धूलि पर !!

निद्रा, भय, मैथुनाहार
—ये पशु लिप्साएँ चार—
हुईं तुम्हें सर्वस्व - सार ?

धिक् मैथुन आहार यंत्र !
क्या इन्हीं बालुका भीतों पर
रचने जाते हो भव्य, अमर
तुम जन समाज का नव्य तंत्र ?
मिली यही मानव में क्षमता ?
पशु, पक्षी, पुष्पों से समता ?
मानवता पशुता समान है ?
प्राणिशास्त्र देता प्रमाण है ?

बाह्य नहीं आंतरिक साम्य
जीवों से मानव को प्रकाम्य !
मानव को आदर्श चाहिए,
संस्कृति, आत्मोत्कर्ष चाहिए,

बाह्य विधान उसे है बधन,
यदि न साम्य उनमें अंतरतम—
मूल्य न उनका चींटी के सम,
वे हैं जड़, चींटी है चेतन!
जीवित चींटी, जीवन वाहक,
मानव जीवन का वर नायक,
वह स्व-तंत्र, वह आत्म विधायक!

० ०

पूर्ण तंत्र मानव, वह ईश्वर,
मानव का विधि उसके भीतर!

पतझर

रिक्त हो रहीं आज डालियाँ,—डरो न किंचित्
रक्त पूर्ण, मांसल होंगी फिर, जीवन रंजित!
जन्मशील है मरण, : अमर मर मर कर जीवन,
झरता नित प्राचीन, पल्लवित होता नूतन!
पतझर यह, मानव जीवन में आया पतझर,
आज युगों के बाद हो रहा नया युगांतर!
बीत गए बहु हिम, वर्षातप, विभव पराभव,
जग जीवन में फिर वसंत आने को अभिनव!
झरते हों, झरने दो पत्ते,—डरो न किंचित्
नवल मुकुल मंजरियों से भव होगा शोभित!
सदियों में आया मानव जग में यह पतझर,
सदियों तक भोगोगे नव मधु का वैभव वर!

दो लड़के

मेरे आँगन में, (टीले पर है मेरा घर)
दो छोटे - से लड़के आ जाते हैं अकसर!
नंगे तन, गदबदे, साँवले, सहज छबीले,
मिट्टी के मटमैले पुतले,—पर फुर्तीले!
जल्दी से, टीले के नीचे, उधर, उतर कर
वे चुन ले जाते कूड़े से निधियाँ सुंदर,—

सिगरेट के खाली डिब्बे, पन्नी चमकीली,
फ़ीतों के टुकड़े, तस्वीरें नीली पीली
मासिक पत्रों के कवरों की; औ' बंदर-से
किलकारी भरते हैं, खुश हो-हो अन्दर से !
दौड़ पार आँगन के फिर हो जाते ओझल
वे नाटे छः सात साल के लड़के मांसल !

सुंदर लगती नग्न देह, मोहती नयन-मन,
मानव के नाते उर में भरता अपनापन !
मानव के बालक हैं ये पासी के बच्चे,
रोम रोम मानव, साँचे में ढाले सच्चे !
अस्थि मांस के इन जीवों ही का यह जग घर,
आत्मा का अधिवास न यह,—वह सूक्ष्म, अनश्वर !
न्योछावर है आत्मा नश्वर रक्त मांस पर,
जग का अधिकारी है वह, जो है दुर्बलतर !

वह्नि, बाढ़, उल्का, झंझा की भीषण भू पर
कैसे रह सकता है कोमल मनुज कलेवर ?
निष्ठुर है जड़ प्रकृति, सहज भंगुर जीवित जन,
मानव को चाहिए यहाँ मनुजोचित साधन !
क्यों न एक हो मानव मानव सभी परस्पर
मानवता निर्माण करें जग में लोकोत्तर ?
जीवन का प्रासाद उठे भू पर गौरवमय,
मानव का साम्राज्य बने,—मानव हित निश्चय !

जीवन की क्षण-धूलि रह सके जहाँ सुरक्षित,
रक्त मांस की इच्छाएँ जन की हों पूरित !
—मनुज प्रेम से जहाँ रह सकें,—मानव ईश्वर !
और कौन सा स्वर्ग चाहिए तुझे धरा पर ?

मानवपन

इस धरती के रोम रोम में
भरी सहज सुंदरता,
इसकी रज को छू प्रकाश
बन मधुर विनम्र निखरता !

पीले पत्ते, टूटी टहनी,
छिलके, कंकर, पत्थर,

कूड़ा करकट सब कुछ भू पर
लगता सार्थक सुंदर।

प्रणत सदा से धरणी : इसका
चिर उदार वक्षस्थल
ज्योति तमस, हिम आतप का
मधु पतझर का रंगस्थल !

जीवों की यह धात्री : इसकी
मिट्टी का उनका तन,
इस संस्कृत रज का ही प्रतिनिधि
हो सकता मानवपन !

जीव जनित जो सहज भावना,
संस्कृति उससे निर्मित,
चिर ममत्व की मधुर ज्योति—
जिससे मानव उर ज्योतित !

रीति नीति वाणी विचार
केवल हैं उसकी प्रतिकृति
जीवों के प्रति आत्म बोध ही
मनुष्यत्व की परिणति !

विद्या, वैभव, गुण विशिष्टता
भूषण हों मानव के,
जीव प्रेम के बिना किन्तु ये
दूषण हैं दानव के !

रक्त मांस का जीव, विविध
दुर्बलताओं से शोभित,
मनुष्यत्व दुर्लभ सुरत्व से,—
निष्कलंकता पीड़ित !

व्याधि सभ्यता की है निश्चित
पूर्ण सत्य का पूजन,
प्राण हीन वह कला, नहीं
जिसमें अपूर्णता शोभन !
... ...

सीमाएँ आदर्श सकल,
सीमा विहीन यह जीवन,
दोषों से ही दोष शुद्ध है
मिट्टी का मानवपन !

गंगा की साँझ

अभी गिरा रवि, ताम्र कलश सा,
गंगा के उस पार,
क्लांत पांथ, जिह्वा विलोल
जल में रक्ताभ प्रसार;
भूरे जलदों से धूमिल नभ,
विहग छदों-से बिखरे—
श्रेणु त्वचा-से सिहर रहे
जल में रोमों-से छितरे !

दूर, क्षितिज में चित्रित सी
उस तरु माला के ऊपर
उड़ती काली विहंग पाँति
रेखा सी लहरा सुन्दर !
उड़ी आ रही हल्की खेवा
दो आरोही लेकर,
नीचे ठीक, तिर रहा जल में
छाया चित्र मनोहर !

शांत, स्निग्ध संध्या सलज्ज मुख
देख रही जल तल में,
नीलारुण अंगों की आभा
छहरी लहरी दल में !
झलक रहे जल के अंचल से
कंचु जलद स्वर्ण प्रभ,
चूर्ण कुंतलों सा लहरों पर
तिरता घन ऊर्मिल नभ !

द्वाभा का ईषत् उज्ज्वल
कोमल तम धीरे घिर कर
दृश्य पटी को बना रहा
गंभीर, गाढ़ रँग भर भर !
मधुर प्राकृतिक सुषमा यह
भरती विषाद है मन में,
मानव की जीवित सुन्दरता
नहीं प्रकृति दर्शन में !

पूर्ण हुई मानव अंगों में
सुन्दरता नैसर्गिक,

शत ऊषा संध्या से निर्मित
नारी प्रतिमा स्वर्गिक !
भिन्न भिन्न बह रही आज
नर नारी जीवन धारा,
युग के युग सैकत कर्दम से
रुद्ध,—छिन्न सुख सारा !

गंगा का प्रभात

गलित ताम्र भव : भृकुटि मात्र रवि
रहा क्षितिज से देख,
गंगा के नभ नील निकष पर
पड़ी स्वर्ण की रेख !
आर पार फैले जल में
घुल कर कोमल आलोक,
कोमलतम बन निखर रहा,
लगता जग अखिल अशोक !

नव किरणों ने विश्वप्राण में
किया पुलक संचार,
ज्योति जड़ित बालुका पुलिन,
हो उठा सजीव अपार !
सिहर अमर जीवन कंपन से
खिल खिल अपने आप,
केवल लहराने को लहराता
लघु लहर कलाप !

सृजन तत्त्व की सृजन शीलता से
हो अवश, अकाम—
निरुद्देश्य जीवन धारा
बहती जाती अविराम !
देख रहा अनिमेष, हो गया
स्थिर, निश्चल सरिता जल,
बहता हूँ मैं, बहते तट,
बहते तरु, क्षितिज, अवनि तल !

यह विराट् भूतों का भव
चिर जीवन से अनुप्राणित,

विविध विरोधी तत्वों के
संघर्षण से संचालित !
निज जीवन के हित अगणित
प्राणी हैं इसके आश्रित,
मानव इसका शासक,—आतप,
अनिल, अन्न, जलशासित !

मानव जीवन, प्रकृति-सरणि में
जड़ विरोध कुछ निश्चित,
विजित प्रकृति को कर, नर ने की
विश्व सभ्यता स्थापित!
देश काल स्थिति से मानवता
रही सदा ही बाधित,
देश काल स्थिति को वश में कर
करना है परिचालित !

क्षुद्र व्यक्ति को विकसित होकर
बनना अब जन-मानव,
सामूहिक मानव को निर्मित
करनी भव-संस्कृति नव !
मानवता के युग प्रभात में
मानव जीवन धारा
मुक्त अबाध बहे, मानव जग
सुख स्वर्णिम हो सारा !

मूल्यांकन

आज सत्य, शिव, सुन्दर करता
नहीं हृदय आकर्षित,
सभ्य, शिष्ट औ' संस्कृत लगते
मन को केवल कुत्सित !
संस्कृति, कला, सदाचारों से
भव मानवता पीड़ित,
स्वर्ण पींजड़े में बंदी है
मानव आत्मा निश्चित !
आज असुन्दर लगते सुन्दर,
प्रिय पीड़ित, शोषित जन,

जीवन के दैन्यों से जर्जर
मानव मुख हरता मन !
मूढ़, असभ्य, उपेक्षित, दूषित ही
भू के उपकारक,
धार्मिक, उपदेशक, पंडित,
दानी हैं लोक प्रतारक !
धर्म, नीति औ' सदाचार का
मूल्यांकन है जन - हित,
सत्य नहीं वह, जनता से जो
नहीं प्राण - संबंधित !
आज सत्य, शिव, सुन्दर केवल
दर्शों में हैं सीमित,
ऊर्ध्वमूल संस्कृति की होना
अधोमूल रे निश्चित !

मार्क्स के प्रति

दंतकथा, वीरों की गाथा, सत्य, नहीं इतिहास,
सम्राटों की विजय लालसा, ललना भृकुटि विलास,
दैव नियति का निर्मम क्रीड़ा चक्र न वह उच्छृंखल,—
धर्मान्धता, नीति, संस्कृति का ही न मात्र समर स्थल !
साक्षी है इतिहास, किया तुमने दुन्दुभि से घोषित,—
प्रकृति विजित कर, मानव ने की विश्व सभ्यता स्थापित !
विकसित हो, बदले जब जब जीवनोपाय के साधन,
युग बदले, शासन बदले, कर गत सभ्यता समापन !
सामाजिक संबंध बने नव, अर्थ भित्ति पर नूतन
नव विचार, नव रीति नीति, नव नियम, भाव, नव दर्शन!
साक्षी है इतिहास, आज होने को पुनः युगान्तर ;
जनगण का अब शासन होगा उत्पादन यंत्रों पर !
वर्गहीन सामाजिकता देगी सबको सम साधन ;
पूरित होंगे जन के भव जीवन के निखिल प्रयोजन !
दिग् दिगंत में व्याप्त, निखिल युग युग का चिर गौरव हर ;
जन संस्कृति का नव विराट् प्रासाद उठेगा भू पर !
धन्य मार्क्स ! चिर तमच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर
तुम त्रिनेत्र के ज्ञान चक्षु-से प्रकट हुए प्रलयंकर !

भूत दर्शन

कहता भौतिकवाद, वस्तु जग का कर तत्वान्वेषण :—
भौतिक भव ही एक मात्र मानव का अंतर दर्पण !
स्थूल सत्य आधार, सूक्ष्म आधेय, हमारा जो मन,
बाह्य विवर्तन से होता युगपत् अंतर परिवर्तन !

राष्ट्र, वर्ग, आदर्श, धर्म, गत रीति नीति औ' दर्शन
स्वर्ण पाश हैं : मुक्ति योजना सामूहिक जन जीवन !
दर्शन युग का अंत, अंत विज्ञानों का संघर्षण,
अब दर्शन - विज्ञान सत्य का करता नव्य निरूपण !

नवोद्भूत इतिहास - भूत सक्रिय, सकरण, जड़ चेतन
द्वन्द्व तर्क से अभिव्यक्ति पाता युग युग में नूतन,
अन्त आज साम्राज्यवाद, धनपति वर्गों का शासन,
प्रस्तर युग की जीर्ण सभ्यता मरणासन्न, समापन !

साम्यवाद के साथ स्वर्ण युग करता मधुर पदार्पण,
मुक्त निखिल मानवता करती मानव का अभिवादन !

साम्राज्यवाद

परिवर्तन ही जग जीवन का नियम चिरंतन, दुर्जय,
साक्षी है इतिहास : युगों का प्रत्यावर्तन अभिनय !
मुखियों के, कुलपति, सामंत, महंतों के वैभव क्षण,
बिला गए बहु राजतंत्र,—सागर में ज्यों बुद्बुद कण !

रजत स्वप्न साम्राज्यवाद का ले नयनों में शोभन
पूंजीवाद निशा भी है होने को आज समापन !
विविध ज्ञान, विज्ञान, कला, यंत्रों का अद्भुत कौशल,
जग को दे बहु जीवन साधन, वाष्प, रश्मि, विद्युत् बल,

मरणोन्मुख साम्राज्यवाद, कर वह्नि और विष वर्षण
अंतिम रण को है सचेष्ट, रच निज विनाश आयोजन !
विश्व क्षितिज में घिरे पराभव के भय-मेघ भयंकर,
नव युग का सूचक है निश्चय यह तांडव प्रलयंकर !

जन युग की स्वर्णिम किरणों से होगी भू आलोकित,
नव संस्कृति के नव प्ररोह होंगे शोणित से सिंचित !!

समाजवाद-गांधीवाद

साम्यवाद ने दिया विश्व को नव भौतिक दर्शन का ज्ञान,
अर्थशास्त्र - यों - राजनीति - गत विशद ऐतिहासिक विज्ञान !
साम्यवाद ने दिया जगत को सामूहिक जनतंत्र महान,
नव जीवन के दैन्य दुःख से किया मनुजता का परित्राण !

अंतर्मुख अद्वैत पड़ा था युग युग से निष्क्रिय, निष्प्राण,
जग में उसे प्रतिष्ठित करने दिया साम्य ने वस्तु विधान !
गांधीवाद जगत में आया ले मानवता का नव मान,
सत्य अहिंसा से मनुजोचित नव संस्कृति करने निर्माण !

गांधीवाद हमें देता जीवन पर अंतर्गत विश्वास,
मानव की निःसीम शक्ति का मिलता उससे चिर आभास !
व्यक्ति पूर्ण बन, जग जीवन में भर सकता है नूतन प्राण,
विकसित मनुष्यत्व कर सकता पशुता से जन का कल्याण !

मनुष्यत्व का तत्त्व सिखाता निश्चय हमको गांधीवाद,
सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद !

धनपति

वे नृशंस हैं : वे जन के श्रमबल से पोषित,
दुहरे धनी, जोंक जग के, भू जिनसे शोषित !
नहीं जिन्हें करनी श्रम से जीविका उपार्जित,
नैतिकता से भी रहते जो अतः अपरिचित !

शय्या की क्रीड़ा कंदुक है उनकी नारी,
अहंमन्य वे, मूढ़, अर्थबल के व्यभिचारी !
सुरांगना, संपदा, सुराओं से संसेवित,
नर पशु वे : भू भार : मनुजता जिनसे लज्जित !

दर्पी, हठी, निरंकुश, निर्मम, कलुषित, कुत्सित,
गत संस्कृति के गरल, लोक जीवन जिनसे मृत !
जग जीवन का दुरुपयोग है उनका जीवन,
अब न प्रयोजन उनका, अंतिम है उनके क्षण !

मध्यवर्ग

संस्कृति का वह दास : विविध विश्वास विधायक,
निखिल ज्ञान, विज्ञान, नीतियों का उन्नायक !
उच्च वर्ग की सुविधा का शास्त्रोक्त प्रचारक,
प्रभु सेवक, जन वंचक वह, निज वर्ग प्रतारक !

भोग शील, धनिकों का स्पर्धी, जीवन-प्रिय अति,
अल्प बुद्ध, संकीर्ण हृदय, तार्किक, व्यापक मति !
पाप पुण्य संत्रस्त, अस्त्रियों का वह कोमल,
वाक् कुशल, थो दर्पी, अति विवेक से निर्बल !

मध्यवर्ग का मानव, वह परिजन पत्नी प्रिय,
यशकामी, व्यक्तित्व प्रसारक, पर हित निष्क्रिय !
श्रमजीवी वह, यदि श्रमिकों का हो अभिभावक,
नवयुग का वाहक हो, नेता, लोक प्रभावक !

कृषक

युग युग का वह भारवाह, आकटि नत मस्तक,
निखिल सभ्य संसार पीठ का उसके स्फोटक !
वज्र मूढ़, जड़ भूत, हठी, वृष बांधव कर्षक,
ध्रुव, ममत्व की मूर्ति, रूढ़ियों का चिर रक्षक !
कर जर्जर, ऋण ग्रस्त, स्वल्प पैत्रिक स्मृति भू-धन,
निखिल दैन्य, दुर्भाग्य, दुरित, दुख का जो कारण;—
वह कुबेर निधि उसे,—स्वेद सिंचित जिसके कण,
हर्ष शोक की स्मृति के बीते जहाँ वर्ष क्षण !

विश्व विवर्तनशील, अपरिवर्तित वह निश्चल,
वही खेत, गृह - द्वार, वही वृष, हँसिया औ हल !
स्थावर स्थितियों का शिशु, स्थावर, स्थाणु कुपीवल,
दीर्घसूत्र, अति दुराशयी, सशंक औ वृषल !
है पुनीत संपत्ति उसे दैवी निधि निश्चित,
संततिवत् गो वृषभ, गृण, तृण, तरु चिर परिचित !
वह संकीर्ण, समूह कृपण, स्वार्थित, पर पीड़ित,
अति निजस्व प्रिय, शोषित, लुंठित, दलित, क्षुधार्दित !

युग युग से निःसंग, स्वीय श्रमबल से जीवित
विश्व प्रगति अनभिज्ञ, कूप तम में निज सीमित

कर्षक का उद्धार पुण्य इच्छा है कल्पित ;
सामूहिक कृषि काय - कल्प, अन्यथा कृषक मत !

श्रमजीवी

वह पवित्र है : वह, जग के कर्दम से पोषित,
वह निर्माता—श्रेणि, वर्ग, धन, बल से शोषित !
मूढ़, अशिक्षित,—सभ्य शिक्षितों से वह शिक्षित,
विश्व उपेक्षित,—शिष्ट संस्कृतों से मनुजोचित !
दैन्य कष्ट कुंठित,—सुंदर है उसका आनन,
गंदे गात वसन हों, पावन श्रम का जीवन !
स्नेह साम्य सौहार्द्रपूर्ण तप से उसका मन,
वह संगठित करेगा भावी भव का शासन !
भूख प्यास से पीड़ित उसकी भद्दी आकृति,
स्पष्ट कथा कहती,—कैसी इस युग की संस्कृति !
वह पशु से भी घृणित मनुज—मानव की है कृति !
जिसके श्रम से सिंची समृद्धों की पृथु संपति !
मोह संपदा अधिकारों का उसे न किंचित,
कार्य कुशल यंत्री वह, श्रम पटुता से जीवित !
शीत ताप, औ' क्षुधा तृषा में सदा संयमित,
दृढ़ चरित्र वह, दुख सहिष्णु, ध्रुव धीर, अभय चित !
लोक क्रान्ति का अग्रदूत, वर वीर, जनादृत,
नव्य सभ्यता का उन्नायक, शासक, शासित,—
चिर पवित्र वह : भय, अन्याय, घृणा से पालित,
जीवन का शिल्पी,—पावन श्रम से प्रक्षालित !

घन नाद

ठङ् ठङ् ठन !
लौह नाद से ठोंक पीट घन
निर्मित करता श्रमिकों का मन,
ठङ् ठङ् ठन !
'कर्म क्लिष्ट मानव भव जीवन,
श्रम ही जग का शिल्पि चिरंतन',—

कठिन सत्य जीवन का क्षण क्षण
घोषित करता घन वज्र स्वन,—
'व्यर्थ विचारों का संघर्षण,
अविरत श्रम ही जीवन साधन,
लौह काष्ठ मय, रक्त मांस मय,
वस्तु रूप ही सत्य चिरंतन'!
ठङ् ठङ् ठन!
अग्नि स्फुलिंगों का कर चुंबन
जाग्रत करता दिग् दिगंत घन,—
'जागो, श्रमिकों, बनो सचेतन,
भू के अधिकारी हैं श्रमजन'!
'मांस पेशियाँ हृष्ट पुष्ट, घन,
बटी शिराएँ, श्रम बलिष्ठ तन.
भू का भव्य करेंगे शासन,
चिर लावण्यपूर्ण श्रम के कण'!
ठङ् ठङ् ठन!

कर्म का मन

भव का जीवन मन का जीवन,
कार्यार्थी को है मन बंधन!
अवचेतन मन से होता रे,
चेतन मन संतत संचालित,
मन के दर्पण में भव की छवि
रंजित होकर होती बिम्बित!
रूप जगत की प्रतिछाया यह
भाव जगत मानस का निश्चित,
गत युग का मृत समुण आज
मानव मन की गति करता कुंठित!
अतः कर्म को प्रथम स्थान दो,
भाव जगत कर्मों से निर्मित,
निखिल विचार, विवेक, तर्क
भव-रूप-कर्म को करो समर्पित!
प्रथम कर्म, कहता जन दर्शन,
पीछे रे सिद्धांत, मत, वचन!

मानव पशु

मानव के पशु के प्रति
हो उदार नव संस्कृति !
युग युग से रच शत शत नैतिक बंधन
बाँध दिया मानव ने पीड़ित पशु तन !
विद्रोही हो उठा आज पशु दर्पित,
वह न रहेगा अब नव युग में गर्हित !
नहीं सहेगा रे वह अनुचित ताड़न,
रीति नीतियों का गत निर्मम शासन !
वह भी क्या मानव जीवन का लांछन ?
वह, मानव के देव भाव का वाहन !

नहीं रहे जीवनोपाय तब विकसित !
जीवन यापन कर न सके सब इच्छित !
नैतिक सीमाएँ बहु कर निर्धारित,
जीवन इच्छा को जन ने मर्यादित !
भू मानव के श्रेयस् के हित निश्चित
पशु ने अपनी बलि दी, देवों के हित !
जीवन के उपकरण अखिल कर अधिकृत
गत युग का पशु हुआ आज अनुजीवित !
देव और पशु, भावों में जो सीमित,
युग युग में होते परिवर्तित, अवसित !
मानव पशु ने किया आज भव अर्जित,
मानव देव हुआ अब वह सम्मानित !

मानव के पशु के प्रति
मध्यवर्ग की हो रति !

नर की छाया

पुरुषों ही की आँखों से
नित देख देख अपना तन,
पुरुषों ही के भावों से
अपने प्रति भर अपना मन,—
लो, अपनी ही चितवन से
वह हो उठती है लज्जित,

अपने ही भीतर छिप छिप
जग से हो गई तिरोहित !

वह नर की छाया नारी !
चिर नमित नयन, पद विजड़ित,
वह चकित, भीत हिरनी सी
निज चरण चाप से शंकित !
मानव की चिर सहधर्मिणि,
युग युग से मुख अवगुंठित,
स्थापित घर के कोने में
वह दीप शिखा सी कंपित !

करती वह जीवन यापन
युग युग से पशु सी पालित,
बंदिनी काम कारा की,
आदर्श नीति परिचालित !!

बंद तुम्हारे द्वार !

बंद तुम्हारे द्वार ?
मुसकाती प्राची में ऊषा
ले किरणों का हार,
जागी सरसी में सरोजिनी,
सोई तुम इस बार ?
बंद तुम्हारे द्वार ?

नव मधु में,—अस्थिर मलयानिल,
भौरों में गुंजार,
विहग कंठ में गान,
मौन पुष्पों में सौरभ भार,
बंद तुम्हारे द्वार ?

प्राण ! प्रतीक्षा में प्रकाश
औ' प्रेम बने प्रतिहार !
पथ दिखलाने को प्रकाश,
तुमसे मिलने को प्यार !
बंद तुम्हारे द्वार ?

गीत हर्ष के पंख मार
आकाश कर रहे पार,

भेद सकेगी नहीं हृदय
प्राणों की मर्म पुकार !
बंद तुम्हारे द्वार ?

आज निछावर सुरभि,
खुला जग में मधु का भंडार,
दबा सकोगी तुम्हीं आज
उर में मधु जीवन ज्वार ?
बंद तुम्हारे द्वार !

उन्मेष

मौन रहेगा ज्ञान,
स्तब्ध निखिल विज्ञान !
क्रांति पालतू पशु सी होगी शांत,
तर्क बुद्धि के बाद लगेंगे भ्रांत !
राजनीति औ' अर्थशास्त्र,
होंगे संघर्ष परास्त,
धर्म, नीति, आचार—
रुँधेगी सबकी क्षीण पुकार !

जीवन के स्वर में हो प्रकट महान
फूटेगा जीवन रहस्य का गान !
क्षुधा, तृषा औ' स्पृहा, काम से ऊपर,
जाति, वर्ग औ' देश, राष्ट्र से उठकर,
जीवित स्वर में, व्यापक जीवन गान
सद्य करेगा मानव का कल्याण !

राग

राग, केवल राग !
छिपी चराचर के अंतर में
अनिवार्य्य चिर आग,—
राग, केवल राग !

गूढ़ राग का संवेदन ही
जीवन का इतिहास,

राग शक्ति का विपुल समन्वय
जन समाज, संवास !

निखिल ज्ञान, विज्ञानों में
वह पाता नव अभिव्यक्ति,
राग तत्व ही मूल धातु,
संस्कृतियाँ रूप, विभक्ति !

दुर्निवार यह राग, राग का
रूप करो निर्माण,
वेष्टित करो राग से भव ,—
हो जन जीवन कल्याण !

रूप सत्य

मुझे रूप ही भाता !
प्राण ! रूप ही मेरे उर में
मधुर भाव बन जाता !
मुझे रूप ही भाता !

जीवन का जिर सत्य
नहीं दे सका मुझे परितोष,
मुझे ज्ञान से वस्तु सुहाती,
सूक्ष्म बीज से कोष !

सच है, जीवन के वसंत में
रहता है पतझार,
वर्ण गंधमय कलि कुसुमों का
पर, ऐश्वर्य अपार !

राशि राशि सौन्दर्य, प्रेम,
आनंद, गुणों का द्वार,
मुझे लुभाता रूप रंग
रेखाओं का संसार !

मुझे रूप ही भाता !
प्राण ! रूप का सत्य,
रूप के भीतर नहीं समाता !
मुझे रूप ही भाता !

मुझे स्वप्न दो

मुझे स्वप्न दो, मुझे स्वप्न दो !
हे जीवन के जागरूक !
जीवन के नव नव मुझे स्वप्न दो !
स्वप्न जागरण हो यह जीवन,
स्वप्न पुलक स्मित तन, मन, यौवन,
मेरे स्वप्नों के प्रकाश में
जग का अंधकार जाए खो !
वस्तु - ज्ञान से ऊब गया मैं,
सूखे मरु में डूब गया मैं,
मेरे स्वप्नों की छाया में
जग का वस्तु सत्य जाए खो !
शिशिर शयित जग जीवन वन में
हों पल्लवित स्वप्न नव, क्षण में
मेरे कार्यों में, वाणी में
नव नव स्वप्नों का गुंजन हो !
हे जीवन के जागरूक !
भव जीवन के नव मुझे स्वप्न दो !

जीवन स्पर्श

क्यों चंचल, व्याकुल जन ?
फूट रहा मधुवन में जो सौन्दर्योल्लास,
कलि कुसुमों में राग रंगमय शक्ति विकास,—
आकुल इसीलिए जन-जन-मन !
दौड़ रही रक्तिम पलाश में जीवन ज्वाल,
आम्र मौर में मदिर गंध, तरुओं में तरुण प्रवाल !
विहग युग्म हो विह्वल सुख से आप
पंखों से प्रिय पंख मिला करते मृदु प्रेमालाप—
अखिल विघ्न, भय, बाधाएँ कर पार
शीत, ताप, झंझा के सह बहु वार,
कौन शक्ति सजती जीवन का वासंती शृंगार ?
सभी उसी के हेतु विकल मन,
उसी शक्ति का पाने जीवन स्पर्श,

रोम रोम में भरने विद्युत् हर्ष,
चिर चंचल, व्याकुल जन!

पलाश!

मरकत वन में आज तुम्हारी नव प्रवाल की डाल
जगा रही उर में आकुल आकांक्षाओं की ज्वाल!
पीपल, जिलबिल, आम्र, नीम की पल्लव श्री सुकुमार—
तुम्हीं उठाए हो, पर, वसुधा का मधु यौवन भार!
वर्ण वर्ण की हरीतिमा का वन में भरा विकास,
तुम नव मधु की निखिल कामनाओं के प्रिय उच्छ्वास!
शत शत पुष्पों की, रंगों की रत्नच्छटा, पलाश,
प्रकट नहीं कर सकती यह वैभव पुष्कल उल्लास!

स्वर्ण मंजरित आम्र आज, औ' रजत ताम्र कचनार
नील कोकिला की पुकार नव, पीत भृंग गुंजार,—
वर्ण स्वरों से मुखर तुम्हारे मौन पुष्प श्रृंगार
यौवन के नव रक्त तेज का जिनमें मदिर उभार!
हृदय रुधिर ही अर्पित कर मधु को, अर्पण श्री शाल!
तुमने जग में आज जला दी दिशि दिशि जीवन ज्वाल!

पलाश के प्रति

प्राप्त नहीं मानव जग को यह मर्मोज्वल उल्लास
जो है तुम्हारी डाल डाल पर करता सहज विलास!
आज प्रलय ज्वाला में ज्यों गल गए विश्व के पाश,
जीवन की हिल्लोल लोल उमड़ी छूने आकाश!
आकांक्षाएँ अखिल अवनि की हुई पूर्ण उन्मुक्त,
यह रक्तोज्वल तेज धरा के जीवन के उपयुक्त!
उद्भिज के जीवन विकास में हुआ नवीन प्रभात,
तरुओं का हरितांधकार हो उठा ज्योति अवदात!

नव जीवन का रुधिर शिराओं में कर वहन, पलाश,
तृण तरु जग से मानव जग में तुमने भरा प्रकाश!
यह शोभा, यह शक्ति, दीप्ति यह यौवन की उद्दाम,
भरती मन में ओज, दृगों को लगती प्रिय, अभिराम!

जीवन की आकांक्षाओं को यह सौन्दर्य अमंद,
मानव भी उपभोग कर सके, मुक्त, स्वस्थ आनंद !

बदली का प्रभात

निशि के तम में झर झर
हलकी जल की फुही
धरती को कर गई सजल !

अँधियाली में छन कर
निर्मल जल की फुही
तृण तरु को कर उज्ज्वल !...

बीती रात,—
धूमिल सजल प्रभात
वृष्टि धुत, नव स्नात !
अलस, उनींदा सा जग,
कोमलाभ, दृग सुभग !

कहाँ मनुज को अवसर
देखे मधुर प्रकृति मुख ?
भव अभाव से जर्जर,
प्रकृति उसे देगी सुख ?

दो मित्र

उस निर्जन टीले पर
दोनों चिलबिल
एक दूसरे से मिल,
मित्रों-से हैं खड़े,
मौन, मनोहर !

दोनों पादप
सह वर्षातप,
हुए साथ ही बड़े,
दीर्घ, सुदृढ़तर !

पतझर में सब पत्र गए झर,
नग्न, धवल डालों पर

पतली, टेढ़ी टहनी अगणित
शिरा जाल सी फैलीं अविरल,—
तरुओं की रेखा छवि अविकल
भू पर कर छायांकित !

नील, निरभ्र गगन पर
चित्रित-से दो तरुवर
आँखों को लगते हैं सुंदर,
मन को सुखकर !

झंझा में नीम

सर् सर् मर् मर्
रेशम के-से स्वर भर,
घने नीम दल
लंबे, पतले, चंचल,
श्वसन स्पर्श से
रोम हर्ष से
हिल हिल उठते प्रतिपल !

वृक्ष शिखर से भू पर
शत शत मिश्रित ध्वनि कर
फूट पड़ा, लो, निर्झर,—
मरुत,-कम्प्र, अर...
झूम झूम, झुक झुक कर,
भीग नीम तरु निर्भर
सिहर सिहर थर् थर् थर्
करता सर् मर्
चर् मर् !

लिप पुत गए निखिल दल
हरित पुंज में ओझल,—
वायु वेग से अविरल
धातु पत्र-से बज कल !
सिसक, सिसक, साँसें भर,
भीत, पीत, कृश, निर्बल,
नीम दल सकल
झर झर पड़ते पल पल !

कृष्ण घन !

मुसकाओ हे भीम कृष्ण घन !
गहन भयावह अंधकार को
ज्योति मुग्ध कर चमकी कुछ क्षण !

दिग् विदीर्ण कर, भर गुरु गर्जन,
चीर तड़ित् से अन्ध आवरण,
उमड़ घुमड़, घिर रूम झूम, हे,
बरसाओ नव जीवन के कण !
घूम घूम छा निर्भर अंबर,
झूल झूल झेंझा झोकों पर,
हे दुर्दम उद्दाम, हरो
भव ताप, दाप, अभिमत कर सिंचन !

इंद्रचाप से कर दिशि चित्रित
बर्हभार से केकी पुलकित,
हरित भरित हे करो धरणि को
हो करुणार्द्र, घोर वज्र स्वन !

आवेश

ज्यों मधुवन में गूंजते भ्रमर,
ज्यों आम्र कुंज में पिकी मुखर,
मेरी उर तंत्री से रह रह
फूटते मधुर गीतों के स्वर !
ज्यों झरते हरसिंगार झर झर
ज्यों हिम फुहार कण फहर फहर,
मेरे मानस से मुंदकता
निःसृत होती त्यों निखर निखर !
गिरि उर से ज्यों बहते निर्झर,
रवि शशि से स्निग्ध मधुरतम कर,
मेरे मन की आवेश शांति
गीतों में पड़ती बिखर बिखर !

सीमाओं में ही तुम असीम,
बंधन नियमों में मुक्ति सतत,
बहु रूपों में नित एक रूप,
संघर्षों में ही शांति महत् !

कलुषित दूषित में चिर पवित्र,
कुत्सित कुरूप में तुम सुंदर,
खंडित कुंठित में पूर्ण सदा
क्षणभंगुर में तुम नित्य अमर !
तुम पतित क्षुद्र में चिर महान्,
परित्यक्तों के जीवन सहचर,
तुम विपथ गामियों के चिर पथ,
जीवन-मृत के नव जीवन वर !

तुम बाधा विघ्नों में हो बल,
जीवन के तम में चिर भास्वर,
असफलताओं में दृष्ट सिद्धि,
तुम जीवों ही में हो ईश्वर !

वाणी

वाणी, वाणी,
जीवन की वाणी दो मुझको भास्वर !
मौन गगन को भेद
बोलते जिस वाणी में उडुचर,
जिसमें नीरव गिरि से निःसृत
होते मुखरित निर्झर !

जिस वाणी में मेघ गरजते,
लहरा उठते सागर,
जिसमें नित दामिनी दमकती,
मोर नाचते सुंदर !

वाणी वाणी,
मुझे वस्तु वाणी दो पूर्ण चिरंतन !
जिस वाणी में छू मलयानिल
पुलकों से भरता तन,

जिसमें मृदु मुख कुसुम खोलते,
अणु अणु करते नर्तन !
जिस वाणी में क्षुधा, तृषा
औ' काम दीप्त करते तन,
जिसमें इच्छा, सुख दुख उठते,
आते शैशव, यौवन !
वाणी, वाणी,
मुझे सृष्टि की वाणी दो अविनश्वर !
जो बहु वर्ण, गंध, रूपों में
करती सृजन निरंतर,
जिस वाणी में अनुभव करते
चुंबके निखिल चराचर !
जो वाणी चिर जन्म मरण,
तम औ' प्रकाश से है पर,
जो वाणी जीवन की जीवन,
शाश्वत, सुंदर, अक्षर !
वाणी, वाणी
मुझको दो घट घट की वाणी के स्वर !

ग्राम कवि

यहाँ न पल्लव वन में मर्मर,
यहाँ न मधु विहगों में गुंजन,
जीवन का संगीत बन रहा
यहाँ अतृप्त हृदय का रोदन !

यहाँ नहीं शब्दों में बँधती
आदर्शों की प्रतिमा जीवित,
यहाँ व्यर्थ है चित्र गीत में
सुंदरता को करना संचित !

यहाँ धरा का मुख कुरूप है,
कुत्सित गर्हित जन का जीवन,
सुंदरता का मूल्य वहाँ क्या
जहाँ उदर है क्षुब्ध, नग्न तन ?—

जहाँ दैन्य जर्जर असंख्य जन
पशु - जघन्य क्षण करते यापन,
कीड़ों - से रेंगते मनुज शिशु,
जहाँ अकाल वृद्ध है यौवन !

सुलभ यहाँ रे कवि को जग में
युग का नहीं सत्य शिव सुंदर,
कँप कँप उठते उसके उर की
व्यथा विमूर्छित वीणा के स्वर !

ग्राम

बृहद् ग्रंथ मानव जीवन का, काल ध्वंस से कवलित,
ग्राम आज है पृष्ठ जनों की करुण कथा का जीवित !
युग युग का इतिहास सभ्यताओं का इसमें संचित,
संस्कृतियों की ह्रास वृद्धि जन शोषण से रेखांकित !

हिंस्र, विजेताओं, भूपों के आक्रमणों की निर्दय,
जीर्ण हस्तलिपि यह दृशंस गृह संघर्षों की निश्चय !
धर्मों का उत्पात जातियों वर्गों का उत्पीड़न,
इसमें चिर संकलित रूढ़ि, विश्वास, विचार सनातन !
घर घर के बिखरे पन्नों में नग्न, क्षुधार्त कहानी,
जन मन के दयनीय भाव कर सकती प्रकट न वाणी !
मानव दुर्गति की गाथा से ओत प्रोत मर्मांतक
सदियों के अत्याचारों की सूची यह रोमांचक !
मनुष्यत्व के मूलतत्त्व यामों ही में अंतर्हित,
उपादान भावी संस्कृति के भरे यहाँ हैं अविकृत !
शिक्षा के सत्याभासों से शाम नहीं हैं पीड़ित,
जीवन के संस्कार अविद्या-तम में जन के रक्षित !

ग्राम चित्र

यहाँ नहीं है चहल पहल वैभव विस्मित जीवन की,
यहाँ डोलती वायु, म्लान सौरभ मर्मर ले वन की !
आता मौन प्रभात अकेला, संध्या भरी उदासी,
यहाँ घूमती दोपहरी में स्वप्नों की छाया सी !
यहाँ नहीं विद्युत् दीपों का विवस निशा में निर्मित,
अँधियाली में रहती गहरी अँधियाली भय कल्पित !
यहाँ खर्व नर (बानर ?) रहते, युग युग से अभिशापित,
अन्न वस्त्र पीड़ित असभ्य, निर्बुद्धि, पंक में पालित !
यह तो मानव लोक नहीं है, यह रे नरक अपरिचित,
यह भारत का ग्राम,—सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित !
भाड़ फूस के विवर,—यही क्या जीवन शिल्पी के घर ?
कीड़ों-से रेंगते कौन ये ? बुद्धिप्राण नारी नर ?
अकथनीय क्षुद्रता, विवशता भरी यहाँ के जग में,
गृह गृह में है कलह, खेत में कलह, कलह है मग में !
यह रवि शशि का लोक,—जहाँ हँसते समूह में उडगण,
जहाँ चहकते विहग, बदलते क्षण क्षण विद्युत् प्रभ घन !
यहाँ वनस्पति रहते, रहती खेतों की हरियाली,
यहाँ फूल हैं, यहाँ ओस, कोकिला, आम की डाली !
ये रहते हैं यहाँ,—और नीला नभ, दोई धरती,
सूरज का चौड़ा प्रकाश, ज्योत्स्ना चुपचाप विचरती !

प्रकृति धाम यह : तृण तृण, कण कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित,
यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विषण्ण जीवन-मृत !

ग्राम युवती

उन्मद यौवन से उभर
घटा सी नव असाढ़ की सुंदर,
अति श्याम वरण,
श्लथ, मंद चरण,
इठलाती आती ग्राम युवति
वह गज गति
सर्प डगर पर !

सरकाती पट,
खिसकाती लट,—
शरमाती झट
वह नमित दृष्टि से देख उरोजों के युग घट !
हँसती खलखल
अबला चंचल
ज्यों फूट पड़ा हो स्रोत सरल
मर फेनोज्वल दशनों से अधरों के तट !

वह मग में रुक,
मानो कुछ झुक,
आँचल सँभालती, फेर नयन मुख,
पा प्रिय पद की आहट !
आ ग्राम युवक,
प्रेमी याचक,
जब उसे ताकता है इकटक,
उल्लसित
चकित,
वह लेती मूँद पलक पट !

पनघट पर
मोहित नारी नर !—
जब जल से भर
भारी गागर

खींचती उबहनी वह, बरबस
चोली से उभर उभर कसमस
खिंचते सँग युग रस भरे कलश--
जल छलकाती
रस बरसाती,
बलखाती वह घर को जाती,
सिर पर घट,
उर पर धर पट !

कानों में गुड़हल
खोंस, —धवल
या कुई, कनेर, लोध पाटल,
वह हरसिंगार से कच सँवार,
मृदु मौलसिरी के गूँथ हार,
गउओं सँग करती वन विहार,
पिक चातक के सँग दे पुकार,-
वह कुंद, काँस से,
अमलतास से,
आम्र मौर, सहजन, पलाश से,
निर्जन में सज ऋतु सिंगार !

तन पर यौवन सुषमाशाली,
मुख पर श्रमकण, रवि की लाली,
सिर पर धर स्वर्ण शस्य डाली,
वह मेंड़ों पर आती जाती,
उरु मटकाती,
कटि लचकाती,
चिर वर्षातप हिम की पाली
घन श्याम वरण,
अति क्षिप्र चरण,
अधरों से धरे पकी बाली !

रे दो दिन का
उसका यौवन !
सपना छिन का
रहता न स्मरण !
दुःखों से पिस,
दुर्दिन में घिस,

जर्जर हो जाता उसका तन !
ढह जाता असमय यौवन धन !
वह जाता तट का तिनका
जो लहरों से हँस खेला कुछ क्षण !!

ग्राम नारी

स्वाभाविक नारी जन की लज्जा से वेष्टित,
नित कर्म निष्ठ, अंगों की हृष्ट पुष्ट सुंदर,
श्रम से हैं जिसके क्षुधा काम चिर मर्यादित,
वह स्वस्थ ग्राम नारी, नर की जीवन सहचर !
वह शोभा पात्र नहीं कुसुमादपि मृदुल गात्र,
वह नैसर्गिक जीवन संस्कारों से चालित,
सत्यानासों में पली न छाया मूर्ति मात्र,
जीवन रण में सक्षम, संघर्षों से शिक्षित !

वह वर्ग नारियों सी न सुज्ञ, संस्कृत कृत्रिम,
रंजित कपोल भ्रू अधर, अंक सुरभित वासित,
छाया प्रकाश की सृष्टि,—उसे सम ऊष्मा हिम,
वह नहीं कुलों की काम बंदिनी अभिशापित !
स्थिर, स्नेह स्निग्ध है उसका उज्ज्वल दृष्टिपात,
वह द्वन्द्व ग्रंथि से मुक्त मानवी है प्राकृत,
नागरिकों का नट रंग प्रणय उसको न ज्ञात,
सम्मोहन, विभ्रम, अंग भंगिमा में अपठित !

उसमें यत्नों से रक्षित, वैभव से पोषित,
सौन्दर्य मधुरिमा नहीं, न शोभा सौकुमार्य,
वह नहीं स्वप्नशायिनी प्रेयसी ही परिजित,
वह नर की सहधर्मिणी, सदा प्रिय जिसे कार्य !
पिक चातक की मादक पुकार से उसका मन
हो उठता नहीं प्रणय स्मृतियों से आंदोलित,
चिर क्षुधा शीत की चीत्कारें, दुख का क्रंदन,
जीवन के पथ से उसे नहीं करते विचलित !

मृदु मांस पेशियों में उसकी दृढ़ कोमलता,
संयोग अवयवों में, अश्लथ उसके उरोज,
कृत्रिम रति की है नहीं हृदय में आकुलता,
उद्दीप्त न करता उसे भाव कल्पित मनोज !

वह स्नेह, शील, सेवा, ममता की मधुर मूर्ति,
यद्यपि चिर दैन्य, अविद्या के तम से पीड़ित,
कर रही मानवी के अभाव की आज पूर्ति,
अग्रजा नागरी की, यह ग्राम वधू निश्चित !

वे आँखें

अंधकार की गुहा सरीखी
उन आँखों से डरता है मन,
भरा दूर तक उनमें दारुण
दैन्य दुःख का नीरव रोदन !
अह, अथाह नैराश्य विवशता का
उनमें भीषण सूनापन,
मानव के पाशव पीड़न का
देतीं वे निर्मम विज्ञापन !

फूट रहा उनसे गहरा आतंक,
क्षोभ, शोषण, संशय, भ्रम,
डूब कालिमा में उनकी
कँपता मन, उनमें मरघट का तम!
ग्रस लेती दर्शक को वह
दुर्ज्ञेय, दया की भूखी चितवन,
झूल रहा उस छाया पट में,
युग युग का जर्जर जन जीवन !

वह स्वाधीन किसान रहा
अभिमान भरा आँखों में इसका,
छोड़ उसे मेंझधार आज
संसार कगार सदृश वह खिसका !
लहराते वे खेत दृगों में
हुआ बेदखल वह अब जिनसे,
हँसती थी उसके जीवन की
हरियाली जिनके तृन तृन से !

आँखों ही में घूमा करता
वह उसकी आँखों का तारा,
कारकुनों की लाठी से जो
गया जवानी ही में मारा !

बिका दिया घर द्वार,
महाजन ने न ब्याज की कौड़ी छोड़ी,
रह रह आँखों में चुभती वह
कुर्क हुई बरधों की जोड़ी!
उजरी उसके सिवा किसे कब
पास बुहाने आने देती?
अह, आँखों में नाचा करती
उजड़ गई जो सुख की खेती!
बिना दवा दर्पन के घरनी
स्वरग चली,—आँखें आतीं भर,
देख रेख के बिना दुधमुँही
बिटिया दो दिन बाद गई मर!
घर में विधवा रही पतोहू,
लछमी थी, यद्यपि पति घातिन,
पकड़ मँगाया कोतवाल ने,
डूब कुएँ में मरी एक दिन!
खैर, पैर की छूती, जोरू
एक न सही दूसरी आती,
पर जवान लड़के की मुख कर
साँप लोटते, फटती छाती!
पिछले सुख की स्मृति आँखों में
क्षण भर एक चमक है लाती,
तुरत शून्य में गड़ वह चितवन,
तीखी नोंक सदृश बन जाती!
मानव की चेतना न ममता
रहती तब आँखों में उस क्षण,
हर्ष, शोक, अपमान, ग्लानि,
दुख दैन्य न जीवन का आकर्षण!
उस अवचेतन क्षण में मानो
वे सुदूर करती अवलोकन
ज्योति तमस के परदों पर
युग जीवन के पट का परिवर्तन!
अंधकार की अतल गुहा सी
अह, उन आँखों से डरता मन,
वर्ग सभ्यता के मंदिर के
निचले तल की वे वातायन!

वह बुड्ढा

खड़ा द्वार पर, लाठी टेके,
वह जीवन का बूढ़ा पंजर,
सिमटी उसकी सिकुड़ी चमड़ी
हिलते हड्डी के ढाँचे पर!
उभरी ढीली नसें जाल सी
सूखी ठठरी से हैं लिपटीं,
पतझर में ठूँठे तरु से ज्यों
सूनी अमरबेल हो चिपटी!

उसका लंबा डील डौल है,
हट्टी कट्टी काठी चौड़ी,
इस खँडहर में बिजली सी
उन्मत्त जवानी होगी दौड़ी!
बैठी छाती की हड्डी अब
झुकी रीढ़ कुबड़ा सी टेढ़ी,
पिचका पेट, गढ़े कंधों पर,
फटी बिवाई से है एड़ी!

बैठ, टेक धरती पर माथा,
वह सलाम करता है झुक कर
उस धरती से पाँव उठा लेने को
जी करता है क्षण भर!
घुटनों से मुड़ उसकी लंबी
टाँगें जाँघें सटीं परस्पर,
झुका बीच में शीश, झुरियों का
झाँझर मुख निकला बाहर!

हाथ जोड़, चौड़े पंजों की
गुँथी अँगुलियों को कर सम्मुख,
मौन त्रस्त चितवन से,
कातर वाणी से वह कहता निज दुख!
गर्मी के दिन, धरे उपरनी सिर पर,
लुंगी से ढाँपे तन,—
नंगी देह भरी बालों से,—
बन मानुस सा लगता वह जन!

भूखा है : पैसे पा, कुछ गुनगुना
खड़ा हो, जाता वह घर,

पिछले पैरों के बल उठ
जैसे कोई चल रहा जानवर !
काली नारकीय छाया निज
छोड़ गया वह मेरे भीतर,
पैशाचिक सा कुछ : दुःखों से
मनुज गया शायद उसमें मर !

धोबियों का नृत्य

लो, छन छन, छन छन,
छन छन, छन छन,
नाच गुजरिया हरती मन !
धनि के पैरों में घुँघरू कल,
नट की कटि में घंटियाँ तरल,
वह फिरकी सी फिरती चंचल,
नट की कटि खाती सौ सौ बल !

लो, छन छन, छन छन,
छन छन, छन छन,
ठुमुक गुजरिया हरती मन !
उड़ रहा ढोल बाधिन, धातिन,
औ' हुड़ुक घुड़ुकता ढिम ढिम ढिम,
नंजीर खनकते खिन खिन खिन,
मद मस्त रजक, होली का दिन !

लो, छन छन, छन छन,
छन छन, छन छन,
थिरक गुजरिया हरती मन !
वह काम शिखा सी रही सिहर,
नट की कटि में लालसा भँवर,
कँप कँप नितंब उसके थर् थर्,
भर रहे घंटियों में रति स्वर !

लो, छन छन, छन छन,
छन छन, छन छन,
मत्त गुजरिया हरती मन !
फहराता लँहगा लहर लहर,
उड़ रही ओढ़नी फर् फर् फर्,

चोली के कंदुक रहे उभर,
(स्त्री नहीं गुजरिया, वह है नर!)
लो, छन छन, छन छन,
छन छन, छन छन,
हुलस गुजरिया हरती मन!

उर की अतृप्त वासना उभर
इस ढोल मँजीरे के स्वर पर
नाचती, गान के फैला पर,
प्रिय जन गण को उत्सव अवसर,—
लो, छन छन, छन छन,
छन छन, छन छन,
चतुर गुजरिया हरती मन!

ग्राम श्री

फैली खेतों में दूर तलक
मखमल की कोमल हरियाली,
लिपटीं जिससे रवि की किरणें
चाँदी की सी उजली जाली!
तिनकों के हरे हरे तन पर
हिल हरित रुधिर है रहा झलक,
श्यामल भू तल पर झुका हुआ
नभ का चिर निर्मल नील फलक!

रोमांचित सी लगती वसुधा
आई जो गेहूँ में बाली,
अरहर सनई की सोने की
किंकिणियाँ हैं शोभाशाली!
उड़ती भीनी तैलाक्त गंध,
फूली सरसों पीली पीली,
लो, हरित धरा से झाँक रही
नीलम की कलि, तीसी नीली!
रँग रँग के फूलों में रिलमिल
हँस रही सखिया मटर खड़ी,
मखमली पेटियों सी लटकीं
छीमियाँ, छिपाए बीज लड़ी!

फिरती हैं रँग रँग की तितली
रँग रँग के फूलों पर सुंदर,
फूले फिरते हों फूल स्वयं
उड़ उड़ वृंतों से वृंतों पर !
अब रजत स्वर्ण मंजरियों से
लद गई आम्र तरु की डाली,
झर रहे ढाँक, पीपल के दल,
हो उठी कोकिला मतवाली !
महके कटहल, मुकुलित जामुन,
जंगल में झरबेरी झूली,
फूले आड़ू, नीबू दाड़िम,
आलू, गोभी, बैंगन, मूली !

पीले मीठे अमरूदों में
अब लाल लाल चित्तियाँ पड़ीं,
पक गए सुनहले मधुर बेर,
अँवली से तरु की डाल जड़ीं !
लहलह पालक, महमह धनिया,
लौकी औ' सेम फली, फैलीं,
मखमली टमाटर हुए लाल,
मिरचों की बड़ी हरी थैली !
गंजी को मार गया पाला,
अरहर के फूलों को झुलसा,
हाँका करती दिन भर बंदर,
अब मालिन की लड़की तुलसा !
बालाएँ गजरा काट काट,
कुछ कह गुपचुप हँसतीं खिन खिन,
चाँदी की सी घंटियाँ तरल
बजती रहतीं रह रह खिन खिन !

छायातप के हिलकोरों में
चौड़ी हरीतिमा लहराती,
ईखों के खेतों पर सुफेद
काँसों की झंडी फहराती !
ऊँची अरहर में लुका - छिपी
खेलतीं युवतियाँ मदमाती,
चुंबन पा प्रेमी युवकों के
श्रम से श्लथ जीवन बहलातीं !

बगिया के छोटे पेड़ों पर
सुंदर लगते छोटे छाजन
सुंदर, गेहूँ की बालों पर
मोती के दानों से हिमकन !
प्रातः ओझल हो जाता जग,
भू पर आता ज्यों उतर गगन ,
सुंदर लगते फिर कुहरे से
उठते से खेत, बाग़, गृह, वन !

बालू के साँपों से अंकित
गंगा की सतरंगी रेती
सुंदर लगती सरपत छाई
तट पर तरबूजों की खेती !
अँगुली की कंघी से बगुले
कलँगी सँवारते हैं कोई,
तिरते जल में सुरखाब,पुलिन पर
मगरौठी रहती सोई !

डुबकियाँ लगाते सामुद्रिक
धोती पीली चोंचें धोबिन
उड़ अबाबील, टिटहरी, बया,
चाहा चुगते कर्दम, कृमि, तृन ;
नीले नभ में पीलो के दल
आतप में धीरे मँडराते
रह रह काले, भूरे, सुफ़ेद,
चल पंखों के रँग झलकाते !

लटके तरुओं पर विहग नीड़
वनचर लड़कों को हुए ज्ञात,
रेखा छवि विरल टहनियों की
ठूँठे तरुओं के नग्न गात !
आँगन में दौड़ रहे पत्ते,
घूमती भँवर सी शिशिर वात ,
बदली छँटने पर लगती प्रिय
ऋतुमती धरित्री सद्य स्नात !

हँसमुख हरियाली हिम - आतप
सुख से अलसाए - से सोए,
भीगी अँधियाली में निशि की
तारक स्वप्नों में - से खोए,—

मरकत डिब्बे सा खुला ग्राम—
जिस पर नीलम नभ आच्छादन,—
निरुपम हिमांत में स्निग्ध शांत
निज शोभा से हरता जन मन !

गंगा

··· अब आधा जल निश्चल, पीला,—
आधा जल चंचल औ' नीला,—
गीले तन पर मृदु संध्यातप
सिमटा रेशम पट सा ढीला !
··· ··· ···

ऐसे सोने के साँझ प्रात,
ऐसे चाँदी के दिवस रात,
ले जाती बहा कहाँ गंगा
जीवन के युग क्षण,—किसे ज्ञात !

विश्रुत हिम पर्वत से निर्गत,
किरणोज्वल चल कल ऊर्मि निरत,
यमुना, गोमती आदि से मिल
होती यह सागर में परिणत !

यह भौगोलिक गंगा परिचित,
जिसके तट पर बहु नगर प्रथित,
इस जड़ गंगा से मिली हुई
जन गंगा एक और जीवित !

वह विष्णुपदी, शिव मौलि स्रुता,
वह भीष्म प्रसू औ' जह्नु सुता,
वह देव निम्नगा, स्वर्गंगा,
वह सगर पुत्र तारिणी श्रुता !

वह गंगा, यह केवल छाया,
वह लोक चेतना, यह माया,
वह आत्म वाहिनी ज्योति सरी,
यह भू पतिता, कंचुक काया !

वह गंगा जन मन से निःसृत,
जिसमें बहु बुदबुद युग नर्तित,
वह आज तरंगित, संसृति के
मृत सैकत को करने प्लावित !

दिशि दिशि का जन मत वाहित कर,
वह बनी अकूल अतल सागर,
भर देगी दिशि पल पुलिनों में
वह नव जीवन की मृद उर्वर !
... ...

अब नभ पर रेखा शशि शोभित,
गंगा का जल श्यामल, कंपित,
लहरों पर चाँदी की किरणें
करतीं प्रकाशमय कुछ अंकित !

कहारों का रुद्र नृत्य

रंग रंग के चीरों से भर अंग, चीरवासा - से,
दैन्य शून्य में अप्रतिहत जीवन की अभिलाषा - से,
जटा घटा सिर पर, यौवन की श्मश्रु छटा आनन पर,
छोटी बड़ी तूँबियाँ, रँग रँग की गुरियाँ सज तन पर,—
हुलस नृत्य करते तुम, अटपट धर पटु पद, उच्छृंखल
आकांक्षा से समुच्छ्वसित जन मन का हिला धरातल !

फड़क रहे अवयव, आवेश - विवश मुद्राएँ अंकित,
प्रखर लालसा की ज्वालाओं सी अंगुलियाँ कंपित,
ऊष्ण देश के तुम प्रगाढ़ जीवनोल्लास - से निर्भर,
बर्हभार उद्दाम कामना के - से खुले मनोहर !
एक हाथ में ताम्र डमरुधर, एक शिवा की कटि पर,
नृत्य तरंगित रुद्र पूर - से तुम जन मन के सुखकर !

वाद्यों के उन्मत्त घोष से, गायन स्वर से कंपित,
जन इच्छा का गाढ़ चित्र कर हृदय पटल पर अंकित,
खोल गए संसार नया तुम मेरे मन में, क्षण भर,
जन संस्कृति का तिग्म स्फीत सौन्दर्य स्वप्न दिखला कर !
युग युग के सत्याभासों से पीड़ित मेरा अंतर
जन मानव गौरव पर विस्मित : मैं भावी चिन्तनपर !

भारत माता

भारत माता
ग्रामवासिनी !

खेतों में फैला है श्यामल
धूल भरा मैला सा आँचल,
गंगा यमुना में आँसू जल,
मिट्टी की प्रतिमा
उदासिनी !

दैन्य जड़ित अपलक नत चितवन,
अधरों में चिर नीरव रोदन,
युग युग के तम से विषण्ण मन,
वह अपने घर में
प्रवासिनी !

तीस कोटि संतान नग्न तन
अर्ध क्षुधित, शोषित, निरस्त्र जन,
मूढ़, असभ्य, अशिक्षित निर्धन,
नत मस्तक
तरु तल निवासिनी !
स्वर्ण शस्य पर-पद-तल लुंठित,
धरती सा सहिष्णु मन कुंठित,
क्रंदन कंपित अधर मौन स्मित,
राहु ग्रसित
शरदेन्दु हासिनी !

चिन्तित भृकुटि क्षितिज तिमिरांकित,
नमित नयन नभ वाष्पाच्छादित,
आनन श्री छाया-शशि उपमित,
ज्ञान मूढ़
गीता प्रकाशिनी !
सफल आज उसका तप संयम,
पिला अहिंसा स्तन्य सुधोपम,
हरती जन मन भय, भव तम भ्रम,
जग जननी
जीवन विकासिनी !

महात्मा जी के प्रति

निर्वाणोन्मुख आदर्शों के अंतिम दीप शिखोदय !
जिनकी ज्योति छटा के क्षण से प्लावित आज दिगंचल—
गत आदर्शों का अभिभव ही मानव आत्मा की जय,
अतः पराजय आज तुम्हारी जय से चिर लोकोज्वल !
मानव आत्मा के प्रतीक ! आदर्शों से तुम ऊपर
निज उद्देश्यों से महान, निज यश से विशद चिरंतन,
सिद्ध नहीं, तुम लोक सिद्ध के साधन बने महत्तर,
विजित आज तुम नर वरेण्य, गणजन विजयी साधारण !

युग युग की संस्कृतियों का चुन तुमने सार सनातन,
नव संस्कृति का शिलान्यास करना चाहा भव शुभकर,
साम्राज्यों ने ठुकरा दिया युगों का वैभव पाहन,—
पदाघात से मोह मुक्त हो गया आज जन अंतर !
दलित देश के दुर्दम नेता, हे ध्रुव, धीर, धुरंधर,
आत्म शक्ति से दिया जाति-शव को तुमने जीवन बल;
विश्व सभ्यता का होना था नवशिख नव रूपांतर,
राम राज्य का स्वप्न तुम्हारा हुआ न यों ही निष्फल !

विकसित व्यक्तिवाद के मूल्यों का विनाश था निश्चय,
वृद्ध विश्व सामंत काल का था केवल जड़ खँडहर;
हे भारत के हृदय ! तुम्हारे साथ आज निःसंशय,
चूर्ण हो गया विगत सांस्कृतिक हृदय जगत का जर्जर !
गत संस्कृतियों का, आदर्शों का था नियत पराभव,
वर्ग व्यक्ति की आत्मा पर थे सौध धाम जिनके स्थित,
तोड़ युगों के स्वर्ण पाश अब मुक्त हो रहा मानव,
जन मानवता की भव संस्कृति आज हो रही निर्मित !

किए प्रयोग नीति सत्यों के तुमने जन जीवन पर
भावादर्श न सिद्ध कर सके सामूहिक-जीवन-हित;
अधोमूल अश्वत्थ विश्व, शाखाएँ संस्कृतियाँ वर,
वस्तु बिम्ब पर ही जनगण का भाव विभव अवलंबित!
वस्तु सत्य का करते भी तुम जग में यदि आवाहन,
सबसे पहले विमुख तुम्हारे होता निर्धन-भारत,
मध्य युगों की नैतिकता में पोषित शोषित-जनगण,
बिना भाव स्वप्नों को परखे कब हो सकते जाग्रत ?

सफल तुम्हारा सत्यान्वेषण, मानव सत्यान्वेषक !
धर्म, नीति के मान अचिर सब, अचिर शास्त्र, दर्शन मत,
शासन, जनगण-तंत्र अचिर, युग स्थितियाँ जिनकी प्रेरक,
मानव गुण, भव रूप नाम होते परिवर्तित युगपत् !
पूर्ण पुरुष, विकसित मानव तुम, जीवन सिद्ध अहिंसक,
मुक्त-हुए-तुम-मुक्त-हुए-जन, हे जग वंद्य महात्मन् !
देख रहे मानव भविष्य तुम मनश्चक्षु बन अपलक,
धन्य, तुम्हारे श्री चरणों से धरा आज चिर पावन !

राष्ट्र गान

जन भारत है !
भारत है !
स्वर्ग शृंगवत् गौरव मस्तक—
उन्नत हिमवत् है !
जन भारत है,
जाग्रत भारत है !

गगन चुंबि विजयी तिरंगा ध्वज
इंद्रचापमत् है,
कोटि कोटि हम श्रमजीवी सुत
संभ्रम युत नत है
सर्व एक मत, एक ध्येय रत,
सर्व श्रेय व्रत है !
जन भारत है,
जाग्रत् भारत है !

समुच्चरित शत शत कंठों से
जन युग स्वागत है,
सिन्धु तरंगित, मलय श्वसित,
गंगाजल ऊर्मि निरत है,
शरद इंदु स्मित अभिनंदन हित,
प्रतिध्वनित पर्वत है !
स्वागत है, स्वागत है,
जन भारत है,
जाग्रत् भारत है !

स्वर्ग खंड षड्ऋतु परिक्रमित,
आम्र मंजरित, मधुप गुंजरित,
कुसुमित फल द्रुम, पिक कल कूजित,
उर्वर, अभिमत है !
दश दिशि हरित शस्य श्री हर्षित
पुलक राशिवत् है !
जन भारत है,
जाग्रत भारत है !

किरण केलि रत रक्त विजय ध्वज
युग प्रभातमत् है,
कीर्ति स्तंभवत् उन्नत मस्तक
प्रहरी हिमवत् है !
पद तल छू शत फेनिलोर्मि फत,
शेषोदधि नत है,
वर्ग मुक्त हम श्रमिक कृषक जन
चिर शरणागत है !
जन भारत है,
जाग्रत् भारत है !

ग्राम देवता

राम राम,
हे ग्राम देवता, भूति ग्राम !
तुम पुरुष पुरातन, देव सनातन, पूर्णकाम ;
शिर पर शोभित वर छत्र, तड़ित् स्मित घन श्याम,
वन पवन मर्मरित-व्यजन, अन्न फल श्री ललाम !

तुम कोटि बाहु, वर हलधर, वृष वाहन बलिष्ठ,
मित अशन, निर्वसन, क्षीणोदर, चिर सौम्य, शिष्ट;
शिर स्वर्ण शस्य मंजरी मुकुट, गात्रपति वरिष्ठ,
वाग्युद्ध वीर, क्षण क्रुद्ध धीर, नित कर्म निष्ठ !

पिक वयनी मधुऋतु से प्रति वत्सर अभिनंदित,
नव आम्र मंजरी मलय तुम्हें करता अर्पित;
प्रावृट् में तव प्रांगण घन गर्जन से हर्षित,
मरकत कल्पित नव हरित प्ररोहों में पुलकित !

शशि मुखी शरद करती परिक्रमा कुंद स्मित,
वेणी में खोंसे काँस, कान में कुंई लसित;
हिम तुमको करता तुहिन मोतियों से भूषित
वह सोन कोक युग्मों से तव सरि-सर कूजित

अभिराम तुम्हारा बाह्य रूप, मोहित कवि मन,
नभ के नीलम संपुट में तुम मरकत शोभन;
पर, खोल आज निज अंतःपुर के पट गोपन,
चिर मोह मुक्त कर दिया, देव! तुमने यह जन!

राम राम,
हे ग्राम देवता, रूढ़ि धाम!

तुम स्थिर, परिवर्तन रहित, कल्पवत् एक याम;
जीवन संघर्षण विरत, प्रगति पथ के विराम,
शिक्षक तुम, दस वर्षों से मैं सेवक, प्रणाम!

कवि अल्प, उडुप मति, भव तितीर्षु,—दुस्तर अपार,
कल्पना पुत्र मैं, भावी द्रष्टा, निराधार,
सौन्दर्य स्वप्नचर,—नीति दण्डधर तुम उदार,
चिर परम्परा के रक्षक, जन हित मुक्त द्वार!

दिखलाया तुमने भारतीयता का स्वरूप,
जन मर्यादा का स्रोत-शून्य चिर अंध कूप;
जग से अबोध, जानता न था मैं छाँह धूप,
तुम युग युग के जन विश्वासों के जीर्ण स्तूप!

यह वही अवध! तुलसी की संस्कृति का निवास!
श्री राम यहीं करते जन मानस में विलास!
अहु, सतयुग के खँडहर का यह दयनीय ह्रास!
वह अकथनीय मानसिक दैन्य का बना ग्रास!

ये श्रीमानों के भवन आज साकेत धाम!
संयम तप के आदर्श बन गए भोग काम!
आराधित सत्व यहाँ, पूजित धन, वंश, नाम!
यह व्यक्तिवाद की विकसित संस्कृति! राम राम!

श्री राम रहे सामंत काल के ध्रुव प्रकाश,
पशुजीवी युग में नव कृषि संस्कृति के विकास;
कर सके नहीं वे मध्य युगों का तम विनाश,
जन रहे सनातनता के तव से क्रीत दास!

पशु-युग में वे गणदेवों के पूजित पशुपति
थी रुद्रचरों से कुंठित कृषि युग की उन्नति;

श्री राम रुद्र की शिव में कर जन हित परिणति
जीवित कर गए अहल्या को, थे सीतापति !

वाल्मीकि बाद आए श्री व्यास जगत वंदित,
वह कृषि संस्कृति का चरमोन्नत युग था निश्चित ;
बन गए राम तब कृष्ण, भेद मात्रा का मित,
वैभव युग की वंशी से कर जन मन मोहित !

तब से युग युग के हुए चित्रपट परिवर्तित,
तुलसी ने कृषि मन युग अनुरूप किया निर्मित ;
खो गया सत्य का रूप, रह गया नामामृत,
जन समाचरित वह सगुण बन गया आराधित !

गत सक्रिय गुण बन रूढ़ि रीति के जाल गहन,
कृषि प्रमुख देश के लिए हो गए जड़ बंधन ;
जन नहीं, यंत्र जीवनोपाय के अब वाहन,
संस्कृति के केन्द्र न वर्ग अधिप, जन साधारण !

उच्छिष्ट युगों का आज सनातनवत् प्रचलित,
बन गईं चिरंतन रीति नीतियाँ,—स्थितियाँ मृत
गत संस्कृतियाँ थी विकसित वर्ग व्यक्ति आश्रित
तब वर्ग व्यक्ति गुण, जन समूह गुण अब विकसित

अति मानवीय था निश्चित विकसित व्यक्तिवाद ;
मनुजों में जिसने भरा देव पशु का प्रमाद ;
जन जीवन बना न विशद, रहा वह निराह्लाद,
विकसित नर नर-अपवाद नहीं, जन-गुण-विवाद !

तब था न वाष्प-विद्युत् का जग में हुआ उदय
थे मनुज यंत्र, युग पुरुष सहस्र हस्त बलमय
अब यंत्र मनुज के कर पद बल, सेवक समुदय
सामंत मान अब व्यर्थ,—समृद्ध विश्व अतिशय

अब मनुष्यता को नैतिकता पर पानी जय,
गत वर्ग गुणों को जन संस्कृति में होना लय ;
देशों राष्ट्रों को मानव जग बनना निश्चय,
अंतर जग को फिर लेना बहिर्जगत आश्रय !

राम राम

हे ग्राम्य देवता, यथा नाम !
शिक्षक हो तुम, मैं शिष्य, तुम्हें सविनय प्रणाम !
विजया, महुआ, ताड़ी, गाँजा पी सुबह शाम,
तुम समाधिस्थ नित रहो, तुम्हें जग से न काम !

पंडित, पंडे, ओझा, मुखिया औ' साधु, संत,
दिखलाते रहते तुम्हें स्वर्ग अपवर्ग पथ;
जो था, जो है, जो होगा—सब लिख गए ग्रंथ,
विज्ञान ज्ञान से बड़े तुम्हारे मंत्र तंत्र !

युग युग से जनगण, देव ! तुम्हारे पराधीन,
दारिद्र्य दुःख के कर्दम में कृमि सदृश लीन;
बहु रोग शोक पीड़ित, विद्या बल बुद्धि हीन,
तुम राम राज्य के स्वप्न देखते उदासीन !

जन अमानुषी आदर्शों के तम से कवलित,
माया उनको जग, मिथ्या जीवन, देह अनित;
वे चिर निवृत्ति के भोगी,—त्याग विराग विहित,
निज आचरणों में नरक जीवियों तुल्य पतित !

वे देव भाव के प्रेमी—पशुओं से कुत्सित,
नैतिकता के पोषक,—मनुष्यता से वंचित;
बहु नारी सेवी,-पतिव्रता ध्येयी निज हित,
वैधव्य विधायक,—बहु विवाह वादी निश्चित !

सामाजिक जीवन के अयोग्य, ममता प्रधान,
संघर्षण विमुख, अटल उनको विधि का विधान !
जग से अलिप्त वे, पुनर्जन्म का उन्हें ध्यान,
मानव स्वभाव के द्रोही, श्वानों के समान !

राम राम,
हे याम देव, लो हृदय थाम,
अब जन स्वतंत्रता रण की जग में धूम धाम !
उद्यत जनगण युग क्रान्ति के लिए बांध लाम,
तुम रूढ़ि रीति की ला अफीम, लो चिर विराम !

यह जन स्वातंत्र्य नहीं, जनैक्य का वाहक रण,
यह अर्थ राजनीतिक न, सांस्कृतिक संघर्षण;
युग युग की खंड मनुजता, दिशि दिशि के जनगण,
मानवता में मिल रहे,—ऐतिहासिक यह क्षण !

नव मानवता में जाति वर्ग होंगे सब क्षय,
राष्ट्रों के युग वृत्तांश परिधि में जग की लय;
जन आज अहिंसक, होंगे कल स्नेही, सहृदय,
हिन्दू, ईसाई, मुसलमान,—मानव निश्चय !

मानवता अब तक देश काल के थी आश्रित,
संस्कृतियाँ सकल परिस्थितियों से थीं शासित;

गत देश काल मानव के बल से आज विजित,
अब खर्व विगत नैतिकता, मनुष्यता विकसित !

छायाएँ हैं संस्कृतियाँ, मानव की निश्चित,
वह केन्द्र, परिस्थितियों के गुण उसमें बिम्बित;
मानवी चेतना खोल युगों के गुण कवलित,
अब नव संस्कृति के वसनों से होगी भूषित !

विश्वास, धर्म, संस्कृतियाँ, नीति रीतियाँ गत
जन संघर्षण में होंगी ध्वंस, लीन परिणत;
बंधन विमुक्त हो मानव आत्मा अप्रतिहत
नव मानवता का सत्य करेगी युग स्वागत !

राम राम,
हे ग्राम देवता, रूढ़िधाम !—
तुम पुरुष पुरातन, देव सनातन, पूर्ण काम,
जड़वत् परिवर्तन शून्य, कल्प शत एक याम,
शिक्षक हो तुम, मैं शिष्य, तुम्हें शत शत प्रणाम !

संध्या के बाद

सिमटा पंख साँझ की लाली—
जा बैठी अब तरु शिखरों पर,
ताम्रपर्ण पीपल से, शतमुख—
झरते चंचल स्वर्णिम निर्झर !
ज्योति स्तंभ सा धँस सरिता में
सूर्य क्षितिज पर होता ओझल,
बृहद् जिह्म विश्लथ केंचुल सा
लगता चितकबरा गंगाजल !

धूपछाँह के रँग की रेती
अनिल—ऊर्मियों से सर्पांकित,
नील लहरियों में लोड़ित
पीला जल रजत जलद से बिम्बित !
सिकता, सलिल, समीर सदा से
स्नेह पाश में बँधे समुज्ज्वल,
अनिल पिघल कर सलिल,
सलिल ज्यों गति द्रव खो बन गया लवोपल !

शंख घंट बजते मंदिर में,
लहरों में होता लय-कंपन,
दीप शिखा सा ज्वलित कलश
नभ में उठकर करता नीराजन !
तट पर बगुलों सी वृद्धाएँ,
विधवाएँ जप ध्यान में मगन,
मंथर धारा में बहता
जिनका अदृश्य गति अंतर रोदन !
दूर, तिमिर रेखाओं - से
उड़ते पंखों की गति सी चित्रित
सोन खगों की पाँति
आर्द्र ध्वनि से नीरव नभ करती मुखरित!
स्वर्ण चूर्ण सी उड़ती गोरज
किरणों की बादल सी जल कर,
सनन् तीर सा जाता नभ में
ज्योतित पंखों कंठों का स्वर !
लौटे खग, गायें घर लौटीं,
लौटे कृषक श्रांत श्लथ डग धर,
छिपे गृहों में म्लान चराचर
छाया भी हो गई अगोचर !
लौट पैठ से ' व्यापारी भी
जाते घर, उस पार नाव पर,
ऊँटों घोड़ों के संग बैठे
खाली बोरों पर, हुक्का भर !
जाड़ों की सूनी द्वाभा में
झूल रही निशि छाया गहरी,
डूब रहे निष्प्रभ विषाद में
खेत, बाग, गृह, तरु, तट, लहरी !
बिरहा गाते गाड़ीवाले,
भूँक भूँक कर लड़ते कूकर,
हुआ हुआ करते सियार
देते विषण्ण निशि बेला को स्वर !
माली की मँड़ई से उठ,
नभ के नीचे नभ-सी धूमाली
मंद पवन में तिरती
नीली रेशम की सी हलकी जाली !

बत्ती जला दुकानों में
बैठे सब कस्बे के व्यापारी,
मौन मंद आभा में
हिम की ऊँघ रही लंबी अँधियारी!
धुंआ अधिक देती है
टिन की ढबरी, कम करती उजियाला,
मन से कढ़ अवसाद श्रांति
आँखों के आगे बुनती जाला!
छोटी सी बस्ती के भीतर
लेन देन के थोथे सपने
दीपक के मंडल में मिलकर
मँडराते फिर सुख दुख अपने!
कँप कँप उठते लौ के संग
कातर उर क्रंदन, मूक निराशा,
क्षीण ज्योति ने चुपके ज्यों
गोपन मन को दे दी हो भाषा!
लीन हो गई क्षण में बस्ती
मिट्टी खपरे के घर आँगन,
भूल गए लाला अपनी सुधि,
भूल गया सब व्याज, मूलधन!
सकुची सी परचून किराने की ढेरी
लग रहीं तुच्छतर,
इस प्रदोष में नीरव आकुल
उमड़ रहा अंतर जग बाहर!
अनुभव करता लाला का मन
छोटी हस्ती का सस्तापन,
जाग उठा उसमें मानव,
औ' असफल जीवन का उत्पीड़न!
दैन्य दुःख अपमान ग्लानि
चिर क्षुधित पिपासा, मृत अभिलाषा,
बिना आय की क्लांति बन रही
उसके जीवन की परिभाषा!
जड़ अनाज के ढेर सदृश ही
वह दिन भर बैठा गद्दी पर,
बात बात पर झूठ बोलता
कौड़ी की स्पर्धा में मर मर!

फिर भी क्या कुटुंब पलता है ?
रहते स्वच्छ सुघर सब परिजन ?
बना पा रहा वह पक्का घर ?
मन में सुख है ? जुटता है धन ?
खिसक गई कंधों से कथड़ी,
ठिठुर रहा अब सर्दी से तन,
सोच रहा बस्ती का बनिया
घोर विवशता का निज कारण !
शहरी बनियों सा वह भी उठ
क्यों बन जाता नहीं महाजन ?
रोक दिए हैं किसने उसकी
जीवन उन्नति के सब साधन ?
यह क्या संभव नहीं,
व्यवस्था में जग की कुछ हो परिवर्तन ?
कर्म और गुण के समान ही
सकल आय व्यय का हो वितरण ?
घुसे धरौंदों में मिट्टी के
अपनी अपनी सोच रहे जन,
क्या ऐसा कुछ नहीं
फूंक दे जो सबमें सामूहिक जीवन ?
मिलकर जन निर्माण करें जग,
मिल कर भोग करें जीवन का,
जन विमुक्त हों जन शोषण से,
हो समाज अधिकारी धन का ?
दरिद्रता पापों की जननी,
मिटें जनों के पाप, ताप, भय,
सुंदर हों आवास, वसन, तन,
पशु पर फिर मानव की हो जय !
व्यक्ति नहीं, जग की परिपाटी
दोषी जन के दुःख क्लेश की,
जन का श्रम जन में बँट जाए,
प्रजा सुखी हो देश देश की !
टूट गया वह स्वप्न वणिक का,
आई जब बुढ़िया बेचारी
आध पाव आटा लेने,—
लो, लाला ने फिर डंडी मारी !

चाख उठा घूघू डालों में,
लोगों ने पट दिए द्वार पर,
निगल रहा बस्ती को धीरे
गाढ़ अलस निद्रा का अजगर !

खिड़की से

पूस : निशा का प्रथम प्रहर : खिड़की से बाहर
दूर क्षितिज तक स्तब्ध आम्र वन सोया : क्षण भर
दिन का भ्रम होता : पूनो ने तृण तरुओं पर
चाँदी मढ़ दी है, भू को स्वप्नों से जड़ कर !
चारु चंद्रिकातप से पुलकित निखिल धरातल
चमक रहा है, ज्यों जल में बिम्बित जग उज्वल !
स्पष्ट दीखते,—खिड़की की जाली में विजड़ित
कटहल, लीची, आम,—धूक गेंदुर से कंपित;
फाटक औ' हाते के खंभे, बगिया के पथ
आधी जगत कुएँ की, कुरिया की छाजन श्लथ;
अस्पताल का भाग, मेहराबें, दरवाजे,
स्फटिक सदृश जो चमक रहे चूने से ताजे !
औ' टेढ़ी मेढ़ी दिगंत रेखा के ऊपर
पास पास दो पेड़ ताड़ के खड़े मनोहर !
आधी खिड़की पर अगणित ताराओं से स्मित
हरित धरा के ऊपर नीलांबर छायांकित !
कचपचिया (कृत्तिका) सामने शोभित सुंदर
मोती के गुच्छे से : भरणी ज्यों त्रिकोण वर !
पास रोहिणी, प्रिय मिलनातुर, बाँह खोल कर,
सेंदुर की वेदी दे, जुड़ुओं को गोदी भर !
लुब्ध दृष्टि लुब्धक, समीप ही, छोड़ रहा शर
आदि काल से मृग पर : मृग शिर सहज मनोहर !
उधर जड़े पुखराज लाल-से गुरु औ' मंगल
साथ साथ, जिनमें अवश्य गुरु सबसे उज्वल !
हस्ता है प्रत्यक्ष : कठिन वृश्चिक का मिलना,
वह शायद आर्द्रा, कहता हिमजल सा हिलना !
ज्योति फेन सी स्वर्गंगा नभ बीच तरंगित,
परियों की माया सरसी सी छायालोकित,

ज्वलित पुंज तारात्रों के वाष्पों से सस्मित,
नीलम के नभ में रत्नप्रभ पुल सी निर्मित !
खोज रहा हूँ कहाँ उदित सप्तर्षि गगन में
अरुंधती को लिये साथ, विस्मित से मन में !
प्रश्न चिह्न-से जो अनादि से नभ पर अंकित
उत्तर में स्थित ध्रुव की ओर किए चिर इंगित—
पूछ रहे हों संसृति का रहस्य ज्यों अविदित,—
'क्या है वह ध्रुव सत्य ? गहन नभ जिससे ज्योतित !'

ज्योत्स्ना में विकसित सहस्रदल भू पर, अंबर
शोभित ज्यों लावण्य स्वप्न अपलक नयनों पर !
यह प्रतिदिन का दृश्य नहीं, छल से वातायन
आज खुल गया अप्सरियों के जग में मोहन !
चिर परिचित माया बल से बन गए अपरिचित,
निखिल वास्तविक जगत कल्पना से ज्यों चित्रित !
आज असुंदरता कुरूपता भव से ओझल,
सब कुछ सुंदर ही सुंदर, उज्वल ही उज्वल !
एक शक्ति से, कहते, जग प्रपंच यह विकसित,
एक ज्योति-कर से समस्त जड़ चेतन निर्मित;
सच है यह, आलोक पाश में बँधे चराचर
आज आदि कारण की ओर खींचते अंतर !
क्षुद्र आत्म-पर भूल, भूत सब हुए समन्वित ;
तृण तरु से तारालि-सत्य है एक अखंडित !
मानव ही क्यों इस असीम समता से वंचित !
ज्योति भीत, युग युग से तमस विमूढ़, विभाजित !

रेखा चित्र

चाँदी की चौड़ी रेती,
फिर स्वर्णिम गंगा धारा,
जिसके निश्चल उर पर विजड़ित
रत्न छाय नभ सारा !
फिर बालू का नासा
लंबा ग्राह तुंड सा फैला,
छितरी जल रेखा—
कछार फिर गया दूर तक मैला !

जिस पर मछुओं की मँडई
औ' तरबूजों के ऊपर,
बीच बीच में, सरपत के मूँठे
खग - से खोले पर!
पीछे, चित्रित विटप पाँति
लहराई सांध्य क्षितिज पर,
जिससे सट कर
नील धूम्र रेखा ज्यों खिंची समांतर!
वह पिच्छ - से जलद पंख
अंबर में बिखरे सुंदर
रंग रंग की हलकी गहरी
छायाएँ छिटका कर!
सब से ऊपर निर्जन नभ में,
अपलक संध्या तारा,
नीरव औ' निःसंग,
खोजता सा कुछ चिर पथहारा!
सांझ,-नदी का सूना तट,
मिलता है नहीं किनारा,
खोज रहा एकाकी जीवन
साथी, स्नेह सहारा!

दिवा स्वप्न

दिन की इस विस्तृत आभा में, खुली नाव पर,
आर पार के दृश्य लग रहे साधारणतर!
केवल नील फलक सा नभ, सैकत रजतोज्वल
और तरल विल्लौर वेश्मतल सा गंगाजल—
चपल पवन के पदाचार से अहरह स्पंदित—
शांत हास्य से अंतर को करते आह्लादित!
मुक्त स्निग्ध उल्लास उमड़ जल हिलकोरों पर
नृत्य कर रहा, टकरा पुलकित तट छोरों पर!
यह सैकत तट पिघल पिघल यदि बन जाता जल,
वह सकती यदि धरा चूमती हुई दिगंचल,
यदि न डुबाता जल, रह कर चिर मृदुल तरलतर,
तो मैं नाव छोड़, गंगा के गलित स्फटिक पर,

आज लोटता, ज्योति जड़ित लहरों संग जी भर!
किरणों से खेलता मिचौनी में लुक छिप कर,
लहरों के अंचल में फेन पिरोता सुंदर,
हँसता कल कल : मल नाचता, झुल पैंग भर!
कैसा सुंदर होता, वदन न होता गीला,
लिपटा रहता सलिल रेशमी पट सा ढीला!
यह जल गीला नहीं, गलित नभ केवल चंचल,
गीला लगता हमें, न भीगा हुआ स्वर्ण जल—
हाँ, चित्रित से लगते तृण-तरु भू पर बिम्बित,
मेरे चल पद चूम धरणि हो उठती कंपित!
एक सूर्य होता नभ में, सौ भू पर विजड़ित,
सिहर सिहर क्षिति मारुत को करती आलिंगित!
निशि में ताराओं से होती धरा जब खचित
स्वप्न देखता स्वर्ग लोक में मैं ज्योत्स्ना स्मित!

गुन के बल चल रही प्रतनु नौका चढ़ाव पर
बदल रहे तट दृश्य चित्रपट पर ज्यों सुंदर!
वह, जल से सट कर उड़ते हैं चटुल पनेया,
इन पंखों की परियों को चाहिये न खेवा!
दमक रही उजियारी छाती, करछौंहे पर
श्याम घनों से झलक रही बिजली क्षण क्षण पर!
उधर कगारे पर अटका है पीपल तरुवर
लंबी, टेढ़ी जड़ें जटा सी छितरीं बाहर!
लौट रहा सामने सूस पनडुब्बी सा तिर
पूँछ मार जल से चमकीली, करवट खा फिर!
सोन कोक के जोड़े बालू के चाँदों पर
चोंचों से सहला पर, क्रीड़ा करते सुखकर!
बैठ न पातीं, चक्कर खातीं देव दिखाई,
तिरती लहरों पर सफेद काली परछाईं!
लो, मछरंगा उतर तीर सा नीचे क्षण में,
पकड़ तड़पती मछली को, उड़ गया गगन में!
नरकुल सी चोंचें ले चाहा फिरते फर फर,
मँडराते सुरखाव व्योम में, आर्त नाद कर—
काले, पीले, खैरे बहुरंगे चित्रित पर
चमक रहे बारी बारी स्मित आभा से भर!
वह, टीले के ऊपर, तूँबी सा, बबूल पर,
सरपत का घोंसला बया का लटका सुंदर!

दूर उधर, जंगल में मीठा एक मनोहर,
दिखलाई देता है वन-देवों का सा घर!
जहाँ खेलते छायातप, मारुत तरु-मर्मर,
स्वप्न देखती विजन शांति में मौन दोपहर!
वन की परियाँ धूपछाँह की साड़ी पहने,
जहाँ विचरती चुनने ऋतु कुसुमों के गहने!
वहाँ मत्त करती मन नव मुकुलों की सौरभ,
गुंजित रहता सतत द्रुमों का हरित इवसित नभ!

वहाँ गिलहरी दौड़ा करती तरु डालों पर
चंचल लहरी सी, मृदु रोमिल पूँछ उठा कर!
और वन्य विहगों-कीटों के सौ-सौ प्रिय स्वर
गीत वाद्य से बहलाते शोकाकुल अंतर!
वहीं कहीं जी करता, मैं जाकर छिप जाऊँ
मानव जग के क्रंदन से छुटकारा पाऊँ!
प्रकृति नीड़ में व्योम खगों के गाने गाऊँ
अपने चिर स्नेहातुर उर की व्यथा भुलाऊँ!

मजदूरनी के प्रति

नारी की संज्ञा भूला, नरों के संग बैठ,
चिर जन्म सुहृद सी जन हृदयों में सहज पैठ,
जो बँटा रही तुम जग जीवन का काम काज,
तुम प्रिय हो मुझे, न छूती तुमको काम लाज!
सर से आँचल खिसका है,—धूल भरा जूड़ा,—
अधखुला वक्ष,—ढोती तुम सिर पर धर कूड़ा,
हँसती, बतलाती सहोदरा सी जन जन से,
यौवन का स्वास्थ्य झलकता आतप सा तन से!

कुलवधू सुलभ संरक्षणता से हो वंचित,
निज बंधन खो, तुमने स्वतन्त्रता की अर्जित!
स्त्री नहीं, आज मानवी बन गई तुम निश्चित,
जिसके प्रिय अंगों को छू अनिलातप पुलकित!
निज इन्द्र प्रतिष्ठा भूल, जनों के बँट साथ,
जो बँटा रही तुम काम काज में मधुर हाथ—
तुमने निज तन की तुच्छ कंचुकी को उतार,
जग के हित खोल दिए नारी के हृदय द्वार!

नारी

हाय, मानवी रही न नारी लज्जा से अवगुंठित,
वह नर की लालस प्रतिमा, शोभा सज्जा से निर्मित !
युग युग की बंदिनी, देह की कारा में निज सीमित,
वह अदृश्य अस्पृश्य विश्व को, गृह पशु सी ही जीवित !
सदाचार की सीमा उसके तन से है निर्धारित,
पूत योनि वह : मूल्य चर्म पर केवल उसका अंकित ;
अंग अंग उसका नर के वासना चिह्न से मुद्रित,
वह नर की छाया, इंगित संचालित, चिर पद लुंठित !

वह समाज की नहीं इकाई,- मूल्य समान अनिश्चित,
उसका जीवन मान,—मान पर नर के है अवलंबित !
मुक्त हृदय वह स्नेह प्रणय पर सकती नहीं प्रदर्शित,
दृष्टि, स्पर्श, संज्ञा से वह हो जाती सहज कलंकित !
योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित,
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित !
द्वन्द्व क्षुधित मानव समाज पशु जग से भी है गर्हित,
नर नारी के सहज स्नेह से सूक्ष्म वृत्ति हों विकसित !
आज मनुज जग से मिट जाए कुत्सित, लिंग विभाजित,
नारी नर की निखिल क्षुद्रता, आदिम मानों पर स्थित !
सामूहिक-जन-भाव-स्वास्थ्य से जीवन हो मर्यादित
नर नारी की हृदय मुक्ति से मानवता हो संस्कृत !

सन् १९४०

समर भूमि पर मानव शोणित से रंजित निर्भीक चरण धर,
अभिनंदित हो दिग् घोषित तोपों से गर्जन से प्रलयंकर,
शुभागमन नव वर्ष कर रहा, हालाडोला पर चढ़ दुर्धर,
वृहद् विमानों के पंखों से बरसा कर विष वह्नि निरंतर !
इधर अड़ा साम्राज्यवाद, शत शत विनाश के ले आयोजन,
उधर प्रतिक्रिया रुद्ध शक्तियाँ कुद्ध दे रहीं युद्ध निमंत्रण !
सत्य न्याय के बाने पहने, सत्य लुब्ध लड़ रहे राष्ट्रगण,
सिन्धु तरंगों पर उठ गिर कर विजय स्पर्धा करती नर्तन !
धू-धू करती वाष्प शक्ति, विद्युत ध्वनि करती दीर्ण दिगंतर,
ध्वंस भ्रंश-करते विस्फोटक यंत्रिक सभ्यता के गढ़ जर्जर !

तुमुल वर्ग संघर्ष में निहित जनगण का भविष्य लोकोत्तर,
इंद्रचाप पुल सा नव वत्सर शोभित प्रलय प्रभ मेघों पर !
आओ हे दुर्धर्ष वर्ष ! लाओ विनाश के साथ नव सृजन,
विंश शताब्दी का महान विज्ञान ज्ञान ले, उत्तर यौवन !

सूत्रधार

तुम धन्य, वस्त्र व्यवसाय कला के सूत्रधार,
बर्बर जन के तन से हर वल्कल, चर्म भार,
तुमने आदिम मानव की हर नव द्वन्द्व लाज,
बन शीत ताप हित कवच, बचाया जन समाज !
तकली, चरखे, करघे से अब आधुनिक यंत्र,
तुम बने, यंत्र बल पर ही मानव लोक तंत्र
स्थापित करने को अब : मानवता का विकास
यंत्रों के संग हुआ, सिखलाता नृ-इतिहास !

जड़ नहीं यंत्र : वे भाव रूप : संस्कृति द्योतक :
वे विश्व शिराएँ, निखिल सभ्यता के पोषक !
रेडियो, तार औ' फोन,---वाष्प-जल-वायुयान
मिट गया दिशावधि का जिनसे व्यवधान मान,---
धावित जिनमें दिशि दिशि का मन,---वार्ता, विचार,
संस्कृति, संगीत,—गगन में झंकृत निराकार !
जीवन सौन्दर्य प्रतीक यंत्र : जन के शिक्षक
युग क्रांति प्रवर्तक औ' भावी के पथ दर्शक !
वे कृत्रिम, निर्मित, नहीं जगत क्रम में विकसित,
मानव भी यंत्र, विविध युग स्थितियों में वर्धित !
दार्शनिक सत्य यह नहीं,—यंत्र जड़, मानव कृत,
वे हैं अमूर्त : जीवन विकास की कृति निश्चित !

संस्कृति का प्रश्न

राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत के सम्मुख,
अर्थ साम्य भी मिटा न सकता मानव जीवन के दुख !
व्यर्थ सकल इतिहासों, विज्ञानों का सागर मंथन,
वहाँ नहीं युग लक्ष्मी, जीवन सुधा, इंदु जन मोहन !

आज वृहत् सांस्कृतिक समस्या जन के निकट उपस्थित,
खंड मनुजता को युग युग की होना है नव निर्मित;
विविध जाति, वर्गों, धर्मों को होना सहज समन्वित,
मध्य युगों की नैतिकता को मानवता में विकसित !

जग जीवन के अंतर्मुख नियमों से स्वयं प्रवर्तित
मानव का अवचेतन मन हो गया आज परिवर्तित !
बाह्य चेतनाओं में उसके क्षोभ, क्रांति, उत्पीड़न,
विगत सभ्यता दंत-शून्य फणि सी करती युग नर्तन !
व्यर्थ आज राष्ट्रों का विग्रह, औ' लोपों का गर्जन,
रोक न सकते जीवन की गति शत विनाश आयोजन !
नव प्रकाश में तमस युगों का होगा स्वयं निमज्जित,
प्रतिक्रियाएँ विगत गुणों की होंगी शनैः पराजित !

सांस्कृतिक हृदय

कृषि युग से वाहित मानव का सांस्कृतिक हृदय
जो गत समाज की रीति नीतियों का समुदय,
आचार विचारों में जो बहु देता परिचय,
उपजाता मन में सुख दुख, आशा, भय, संशय,—
जो भले बुरे का ज्ञान हमें देता निश्चित
सामंत जगत में हुआ मनुज के बहु निर्मित !

उन युग स्थितियों का आज दृश्य पट परिवर्तित,
प्रस्तर युग की सभ्यता हो रही अब अवसित !
जो अंतर जग था बाह्य जगत पर अवलंबित
वह बदल रहा युगपत् युग स्थितियों से प्रेरित !
बहु जाति धर्म औ' नीति कर्म में पा विकास
गत सगुण आज लय होने को : औ' नव प्रकाश
नव स्थितियों के सर्जन से हो अब शनैः उदय
बन रहा मनुज की नव आत्मा, नव सांस्कृतिक हृदय !

बापू के प्रति

चरमोन्नत जग में जब कि आज विज्ञान ज्ञान,
बहु भौतिक साधन, यंत्र, यान, वैभव महान,

सेवक हैं विद्युत वाष्प शक्ति : धन बल नितांत,
फिर क्यों जग में उत्पीड़न ? जीवन यों अशांत ?
मानव ने पाई देश काल पर जय निश्चय,
मानव के पास नहीं मानव का आज हृदय!
चर्वित उसका विज्ञान ज्ञान, वह नहीं पचित,
भौतिक मद से मानव आत्मा हो गई विजित!

है श्लाघ्य मनुज का भौतिक संचय का प्रयास,
मानवी भावना का क्या पर उसमें विकास ?
चाहिए विश्व को आज भाव का नवोन्मेष,
मानव उर में फिर मानवता का हो प्रवेश !
बापू ! तुम पर हैं आज लगे जग के लोचन,
तुम खोल नहीं जाओगे मानव के बंधन ?

नव इंद्रिय

नव जीवन की इंद्रिय दो हे, मानव को,
नव जीवन की नव इंद्रिय,
नव मानवता का अनुभव कर सके मनुज
नव चेतनता से सक्रिय!

स्वर्ण खंड इस पुण्य भूमि पर
प्रेत युगों के करते तांडव,
नव मानव का मिलन तीर्थ
बन रहा रक्त चंडी का रौरव !
अनिर्वाप्य साम्राज्य लालसा
अगणित नर आहुति देती नव,
जाति वर्ग औ' देश राष्ट्र में
आज छिड़ा प्रलयंकर विप्लव !

नव युग की नव आत्मा दो पशु मानव को,
नव जीवन की नव इंद्रिय,
नव मानवता का साम्राज्य बने भू पर
दश दिशि के जनगण को प्रिय !

कवि कृषक

जोतो हे कवि, निज प्रतिभा के
फल से निष्ठुर मानव अंतर,
चिर जीर्ण विगत की खाद डाल
जन - भूमि बनाओ सम सुंदर !
बोओ, फिर जन मन में बोओ,
तुम ज्योति पंख नव बीज अमर,
जग जीवन के अंकुर हँस हँस
भू को हरीतिमा से दें भर !
पृथ्वी से खोद निराओ, कवि,
मिथ्या विश्वासों के तृण खर,
सींचो अमृतोपम वाणी की
धारा से मन, मन हो उर्वर !
नव मानवता का स्वर्ण - शस्य-
सौन्दर्य लवाओ जन - सुखकर
तुम जग गृहिणी, जीवन किसान,
जन हित भंडार भरो निर्भर !

वाणी

तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार !
भव कर्म आज युग की स्थितियों से है पीड़ित,
जग का रूपांतर भी जनैक्य पर अवलंबित ;
तुम रूप कर्म से मुक्त, शब्द के पंख मार,
कर सको सुदूर मनोनभ में जन के विहार ;
वाणी, मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार !
चित् शून्य,—आज जग, नव निनाद से हो गुंजित,
मन जड़,—उसमें नव स्थितियों के युग हों जागृत ;
तुम जड़ चेतन की सीमाओं के आर पार,
भंकृत भविष्य का सत्य कर सको स्वराकार ;
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार !
युग कर्म शब्द, युग रूप शब्द, युग सत्य शब्द,
शब्दित कर मानी के सहस्र शत मूक शब्द ;

ज्योतित कर जन मन के जीवन का अन्धकार ,
तुम खोल सको मानव उर के निःशब्द द्वार ;
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार !

आँगन से

रोमांचित हो उठे आज नव वर्षा के स्पर्शों से ?
छोटे-से आँगन मेरे, तुम रीते थे वर्षों से !
नव दूर्वा के हरे प्ररोहों से अब भरे मनोहर !
मरकत के टुकड़े-से लगते तुम विजड़ित भू उर पर
जन निवास से दूर, नीड़ में वन तरुओं के छिपकर,
भू उराज-से उभरे इस एकांत मौन भीटे पर ,
कोमल शाद्वल अंचल पर लेटा मैं स्मित, चिन्तन पर,
जीवन की हँसमुख हरीतिमा को देखूँ आँखें भर !

एक ओर गहरी खाई में सोया तरुओं का तम ,
केका रव से चकित, बखेरे सुख स्वप्नों का संभ्रम!
और दूसरी ओर मंजरित आम्र विपिन कर मुखरित
मधु में पिक, पावस में पी-खग करे हृदय को हर्षित!
हरित भरितवन-नीम उच्छ्वसित शाखाओं का विह्वल
वल्लभार, हाँ, रहे झुकाए मेरे ऊपर कोमल !

याद

विदा हो गई साँझ, विनत मुख पर झीना आँचल धर ,
मेरे एकाकी आँगन में मौन मधुर स्मृतियाँ भर !
वह केसरी दुकूल अभी भी फहरा रहा क्षितिज पर ,
नव असाढ़ के मेघों से घिर रहा बराबर अंबर !

मैं बरामदे में लेटा, शय्या पर, पीड़ित अवयव ,
मन का साथी बना बादलों का विषाद है नीरव !
सक्रिय यह सकरुण विषाद,-मेघों से उमड़ उमड़ कर
भावी के बहु स्वप्न, भाव बहु व्यथित कर रहे अंतर !
विरह मुखर दादुर पुकारता उत्कण्ठित भेकी को ,
वर्हभार से मोर लुभाता मेघ-मुग्ध केकी को ;

आलोकित हो उठता सुख से मेघों का नभ चंचल,
अंतरतम में एक मधुर स्मृति जग जग उठती प्रतिपल !
कंपित करता वक्ष धरा का घन गभीर गर्जन स्वर,
भू पर ही आ गया उतर शत धाराओं में अंबर !
भीनी भीनी भाप सहज ही साँसों में घुलमिल कर
एक और भी मधुर गंध से हृदय दे रही है भर !

नव असाढ़ की संध्या में, मेघों के तम में कोमल,
पीड़ित एकाकी शय्या पर, शत भादों से विह्वल,
एक मधुरतम स्मृति पल भर विद्युत सी जलकर उज्वल
याद दिलाती मुझे हृदय में रहती जो तुम निश्चल !

विनय

विज्ञान ज्ञान बहु सुलभ, सुलभ बहु नीति धर्म,
संकल्प कर सकें जन, इच्छा अनुरूप कर्म !
उपचेतन मन पर विजय पा सकें चेतन मन,
मानव को दो यह शक्ति : पूर्ण जग के कारण !

मनुजों की लघु चेतना मिटे, लघु अहंकार ;
नव युग के गुण से विगत गुणों का अंधकार !
हो शांत जाति विद्वेष, वर्ग गत रक्त समर,
हो शांत युगों के प्रेत, मुक्त मानव अंतर !
संस्कृत हों सब जन, स्नेही हों, सहृदय, सुंदर,
संयुक्त कर्म पर विश्व एकता हो निर्भर !
राष्ट्रों से राष्ट्र मिलें, देशों से देश आज,
मानव से मानव, हो जीवन निर्माण काज !
हो धरणि जनों की, जगत स्वर्ग, जीवन का घर,
नव मानव को दो, प्रभु ! भव मानवता का वर !

सम्मोहन

जादू बिछा दिया जन भू पर !
तुमने सोने की किरणों की
जीवन हरियाली बो बो कर !
फूलों से उड़ फूल, रँगों से
निखर सूक्ष्म रँग उर के भीतर
बुनते स्वप्न मधुर सम्मोहन
स्वर्ण रुधिर से अंतर थर् थर् !

स्पंदित आज हृदय कण कण में
भाषा बनी दृगों की मर्मर,
लहरें उर पर देतीं आँचल
कमल मुखों से जीवित-से सर !
प्रणय दृष्टि दी मुग्ध दृगों को
प्राणों में संगीत दिया भर,
स्वर्ण कामना का नव घूँघट
डाल धरा के मुख पर सुंदर !

निज जीवन का कटु संघर्षण
भूल गया अब मानव अंतर,
जग जीवन के नव स्वप्नों की
ज्योति वृष्टि में अमर स्नान कर !
स्वर्ण जाल में तुमने जीवन
लिपटा लिया, हृदय में हँसकर,
मर्म प्रीति का झरता अविरल
इन प्राणों में स्वर्णिम निर्झर !

स्वर्ग धरा को बाँध पाश में
स्वर्ण चेतना के चिर सुखकर !
स्वप्नों को तुमने जीवन की
देही दे दी, मर्त्य शोक हर !

रजतातप

(आत्म निर्माण)

आज चेतना के प्लावन सा -
निखर रहा रजतातप सुंदर,
ऊषा संध्या के स्वप्नों के
स्वर्णिम पुलिनों को मज्जित कर!
चंद्रातप सी स्निग्ध नीलिमा
यज्ञ धूम सी छाई ऊपर,
किरणों के स्पर्शों से गुंफित
ज्योति वृत्त सा खिंचा दिगंतर!

लौट मुग्ध विस्मित लोचन मन
अंतर्मूल करते अवलोकन,
निभृत स्पर्श पाकर निसर्ग का
आत्मा गोपन करती चिन्तन!
श्रांत इंद्रियाँ अनुप्राणित हो
देवों का करतीं आवाहन,
अंतर्नभ के दुग्धामृत से
भरें पुनः वे इनमें जीवन!

किन स्वर्गिक शिखरों को छूकर
बहता रजत समीरण मंथर!
गंध हीन, निज सूक्ष्म गंध से
सहसा प्राणोज्वल कर अंतर!
निर्मलता ही जल धारा सी
बह बह धोती भू के रज कण,
भूतों की चिर पावनता में
हृदय सहज करता अवगाहन

दीप शिखा सी जगे चेतना
मिट्टी के दीपक से उठ कर,
तैल धारवत् मर्म स्नेह पा
स्वर्ग विभा से भूतल दे भर!
अंतरतम की नीरवता में
जाग्रत् हो सुर मादन गुंजन,
खंडित भव विशृंखलता को
बाँध अमर गति लय में चेतन!

फिर श्रद्धा विश्वास प्रेम से
मानव अंतर हो अंतःस्मित,
संयम तप की सुंदरता से
जग जीवन शतदल दिक् प्रहसित!
व्यक्ति विश्व में व्यापक समता
हो जन के भीतर से स्थापित,
मानव के देवत्व से ग्रथित
जन समाज जीवन हो निर्मित!

करें आत्म निर्माण लोकगण
आत्मोज्वल, भू मंगल के हित,
बहिरंतर जड़ चेतन वैभव
संस्कृति में कर निखिल समन्वित!
सहृदयता का सागर हो मन
हृदय शिला हो प्रेरणा सरित,
भू जीवन के प्रति रुचि जन में
मानव के प्रति मानव प्रेरित!

प्राणों के स्तर स्तर में पुलकित
अमर भावनाएँ हों विकसित,
प्रीति पाश में बँध सुंदरता
काम भीति से हो अकलंकित!
देव वृत्तियों के संगम में
डूबें भू विप्लव, संघर्षण,
जीवन के संगीत में अमित
परिणत हो धरती का क्रंदन!

ऊर्ध्वग शृंगों के समीर को
आओ, साँसों से उर में भर
इस पवित्रता से हम तन का
मन का पोषण करें निरंतर!
मुक्त चेतना के प्लावन सा
उमड़ रहा रजतातप निर्झर,
आज सत्य की बेला बहती
स्वप्नों के पुलिनों के ऊपर!

हिमाद्रि

मानदंड भू के अखंड हे,
पुण्य धरा के स्वर्गारोहण;
प्रिय हिमाद्रि, तुमको हिमकण-से
घेरे मेरे जीवन के क्षण!
मुझ अंचलवासी को तुमने
शैशव में आशी दी पावन,
नभ में नयनों को खो, तब से
स्वप्नों का अभिलाषी जीवन!

कब से शब्दों के शिखरों में
तुम्हें चाहता करना चित्रित
शुभ्र शांति में समाधिस्थ हे
शाश्वत सुंदरता के भूभृत!
बाल्य चेतना मेरी तुम में
जड़ीभूत आनंद तरंगित,
तुम्हें देख सौन्दर्य साधना
महाश्चर्य से मेरी विस्मित!

जिन शिखरों को स्वर्ण किरण नित
ज्योति मुकुट से करती मंडित,
जिन पर सहसा स्खलित तड़ित्
हो उठती निज आलोक से चकित!
जिन शिखरों पर रजत पूर्णिमा
सिन्धु ज्वार सी लगती स्तंभित,
जिनकी नीरवता में मेरे
गीत स्वप्न रहते थे झंकृत!

जिनकी शीतल ज्वाला में जल
बनी चेतना मेरी निर्मल,
प्राण हुए आलोकित जिनके
स्वर्गोन्नत सौन्दर्य से सजल!
हृदय चाहता काव्य कल्पना को
किरीट पहनाना उज्वल
स्मृति में ज्योति तरंगित स्वर्गिक
शृंगों के आलोक का तरल!

वसुधा की महदाकांक्षा - से
स्वर्ग क्षितिज से भी उठ ऊपर

अंतर आलोकित - से स्थित तुम
अमरों का उल्लास पान कर !
उरोमार - से गौरे, धरणि के,
सोया स्वर्ग शीश धर जिस पर,
तुम भारत के शाश्वत गौरव
प्रहरी - से जागरित निरंतर !

रवि की किरणें जिसे स्पर्श कर
हो उठतीं आलोक निनादित,
जिस पर ऊषा संध्या की छवि
आदि सृष्टि - सी ही स्वर्णांकित !
इन्दु ज्वलित तुम स्फटिक धवलिमा
के क्षीरोदधि - से हिल्लोलित
ज्योत्स्ना में थे स्वप्न मौन
अप्सरा लोक - से लगते मोहित !

सुरंग प्रवालों की रत्नश्री
अहरह रहती जहाँ मर्मरित ;
देवदारु की चारु सूचि से
मरकत तलहटियाँ रोमांचित !
मौन स्वर्ग मुख पर अंकित तुम
शुचि दिगंत स्मिति-से चिर शोभित,
आदि तत्व - से, अपनी ही शोभा
निलोक रहते अनिमेषित !

नीली छायाएँ थीं तन पर
लगतीं आभा की - सी सिकुड़न,
इंद्रधनुष मंडल में दीपित
उड़ते थे शत हँसमुख हिमकण !
स्वर्दूतों के पंखों - से स्मित
तड़ित् चकित हिम के रोमिल घन
रंगों से वेष्टित रखते थे
तुमको हे आलोक निरंजन !

प्रति वत्सर आती थी मधुऋतु
सद्यः स्फुट देही ले कुसुमित
वीर रश्मियों को, फूलों के
अंगों पर निज कर शत रजित !

खुलती पंखड़ियों की कंचुक
सौरभ श्वासों से थी स्पंदित,
मेरे शैशव को नित उसकी
गीत कोकिला रखती कूजित !

कलरव, स्वप्नातप, सुरधनु पट,
शशि मुख, हिम स्मिति, गात्र ले श्वसित
षटऋतु करती थीं परिक्रमा
अप्सरियों सी सुरपति प्रेषित !
शरद चंद्रिका हो जाती थी
स्वप्नों के शृंगों पर विजड़ित,
हिम की परियों का अंचल उड़,
भू को कर लेता था परिवृत !

रंग रंग के चित्रित पक्षी
उड़ते नभ में गीत तरंगित,
नील पीत शृंगों का गुंजन
मौन क्षणों को रखता मुखरित !
ऊष्मा का सूर्यातप तुम में
लगता शीतलता - सा मूर्तित,
इंद्रचाप पुल पर, वर्षा में,
सुरबालाएँ आ जातीं निश !

जग प्रच्छाय गुहाओं में, नव
बाष्पों के गज भरते गर्जन,
चंचल विद्युत् लेखाएँ थीं
लिपट हृगों से जातीं तत्क्षण !
ताराओं के साथ सहज
शैशव स्वप्नों से भर जाता मन,
उठते थे तुम अंतर में
सौन्दर्य स्वप्न शृंगों पर मोहन !

मेघों की छाया के संग - संग
हरित घाटियाँ चलतीं प्रतिक्षण,
वन के भीतर उड़ता चंचल
चित्र तितलियों का कुसुमित वन !
रंग - रंग के उपलों पर रणमण
उछल उछल करते कल गायन,
झरनों के स्वर जम - से जाते
रजत हिमानी सूत्रों में घन !

भीम विशाल शिलाओं का वह
मौन, हृदय में अब तक अंकित,
फेनों के जल स्तंभों - से वे
निर्झर रभस वेग से मुखरित!
चीड़ों के तरु वन का तर्पण
साँसें भरता मन में आंदोलित,
दरियों की गहरी छायाएँ
ज्योतिरिंगणों से थी गुंफित!

गाते उर में क्षिप्र स्रोत,
लहराते सर तुषार के निर्मल,
सौरभ की गुंजित अलकों से
छू समीर उर करता शीतल!
नीली पीली हरी लाल
चपलाओं का नभ जगता चंचल
रजत कुहासे में, क्षण में
माया प्रांतर हो जाता ओझल!

संभव, पुरा तुम्हारी द्रोणी
किन्नर मिथुनों से हों कूजित,
छाया निभृत गुहाएँ उन्मद
रति सौरभ से सतत उच्छ्वसित!
औषधियाँ जल जल दरियों के
स्वप्न कक्ष करती हों दीपित,
ओसों के वन में मिलते हों
स्तन हारों के मुक्ताफल स्मित!

मदन दहन की भस्म अनिल में
उड़ अब तक तन करती पुलकित,
सती अपर्णा के तप से
वन श्री अवाक्-सी लगती विस्मित!
अब भी ऊषा वहाँ दीखती
वधू उमा के मुख-सी लज्जित,
बढ़ती चंद्र कला भी गिरिजा-सी
ही गिरि के क्रोड़ में उदित!

अब भी वही वसंत विचरता
पुष्प शरों से भर दिगंत स्मित,
गंधोद्दाम धरा वह ही, पाषाण,
शिलाएँ पुलक पल्लवित!

अब भी प्रिय गौरा का शैशव
वर्णन करते खग पिक मुखरित,
देवदारु के ऊर्ध्व शिखर
वैसे ही शंकर-से समाधि स्थित !

अभी उतरता कूर्म सानु पर
वज्र क्रीड़ा परिणत गज घन,
वातायन से मंद स्तनित कर
देता कवि संदेश आर्द्र स्वन !
अब भी अलकें उठा देखतीं
ग्राम वधू उसको सरल नयन,
शुभ्र बलाकों के दल नभ में
कल ध्वनि भर करते अभिवादन !

आज जीवनोदधि के तट पर
खड़ा अवांछित, क्षुब्ध, उपेक्षित,
देख रहा मैं क्षुद्र अहम् की
शिखर लहरियों का रण कुत्सित !
सोच रहा, किसके गौरव से,
मेरा यह अंतर जग निर्मित,
लगता तब, हे प्रिय हिमाद्रि,
तुम मेरे शिक्षक रहे अपरिचित !

और, पूछता मैं मन से, क्या
यह धरती रह सकती जीवित
जो तुम स्वर्गिक गरिमा भू पर
बरसाते रहते न अपरिमित !
शिखर शिखर ऊपर उठ तुमने
मानव आत्मा कर दी ज्योतित,
हे असीम आत्मानुभूति में
लीन, ज्योति शृंगों के भूभृत् !

घनीभूत अध्यात्म तत्त्व-से
जिससे ज्योति सरित शत निःसृत
प्राणों की हरियाली से स्मित
पृथ्वी तुमसे महिमा मंडित !
स्फटिक सौध-से श्री शोभा के
रश्मि रेख शृंगों से कल्पित,
स्वर्ग खंड तुम इस वसुधा पर,
पुण्य तीर्थ हे, देव प्रतिष्ठित !

मत्स्य गंधाएँ

स्वर्ण पंख सांध्य प्रहर,
ज्योति तरंगित सागर
मान चित्र सा सुंदर!
लहरों से लिपट लहर
लौट रहीं लहरों पर,
स्नायु हर्ष रहा सिहर!
पुलिन स्वप्न वेश्म जड़ित
ताल हस्ततल वीजित
यक्ष लोक सा चित्रित!
वाष्प ग्रथित मेघ सुभग
द्वाभा पंखों में रंग,
उड़ते ज्यों तूल विहग!

सौ सौ ये लोल लहर
परियों के रत्न विवर
सौधों की स्वर्ण शिखर!
तट पर मैं रहा विचर
ये परियाँ, सतरंग पर,
कहतीं आकर बाहर,
'हम जीवन धात्री वर'!
सुनता मैं फेन मुखर
विगलित मोती के स्वर!
'जीवन के अणु उर्वर
पाल पीस पृथ्वी पर
लाई हम, भू नश्वर'!

'ज्योति प्रीति प्राण सुघर
सिन्धु प्रजा, जन-सुखकर
रचे धरा स्वर्ग अमर,—
देख रहीं उठ उठ कर
हम भू तट छू दुस्तर
माँ की ममता से भर'!

स्वर्ण निर्झर
(सौंदर्य चेतना)

स्वर्ण रजत के पत्रों की रत्नच्छाया में सुंदर
रजत घटियों सा झरता स्वर्णिम किरणों का निर्झर !
सिंदूर इंद्रधनुषी लहरों में इंद्रनीलिमा का सर
गलित मोतियों के पीतोज्वल फेनों से जाता भर !
वहाँ सूक्ष्म छायामा के तन तैर अमृत में मादन
वर्ण विभा से भरी अंगभंगी से हर लेते मन !
वह शोभा की द्वाभा का नीहार लोक चिर मोहन
सहज स्फुरित हो उठता नीरव अंतस्तल में गोपन !

ऊषा की लाली से कल्पित नव वसंत की कोंपल,
सौरभ दाख्पों पर पुष्पों के शत रँग खिलते प्रतिपल !
शशि किरणों के नभ के नीचे, उर के सुख से चंचल,
तुहिनों का छाया वन कँपता रहता नित तारोज्वल !
वहाँ एक अप्सरी, स्वर्ण तन चंद्रातप से निर्मित,
नवल अवयवों की जल तल की जाल व्रतति सी शोभित !
फूल देह को उसको घेरे स्वर्ग लालसा गुंजित,
एकाकी प्रिय अंगों पर कोमल लावण्य अनावृत !

सुप्त स्वर्ण के चकांगों-से गौर उरोजों पर स्थित
शुभ्र सुधा के मेघों की जाली उठती गिरती नित !
उठे कामना शिखरों-से, श्वासों से स्वर्गिक स्पंदित,
रजत प्रीति के उन कलशों पर स्वर्ण शिराएँ वेष्टित !
ज्योति भँवर सी सुंदर नाभि प्रिय रजत फुहार उदर में,
स्वर्ण वाष्प का घन लटका जघनों के माणिक सर में !
रजत शांति आत्मा के नभ की, झंकृत उसके स्वर में,
मुक्ता घट में स्वर्ण प्रीति की सुरा लिये वह कर में !

मृदुल कामना लतिकाओं-सी बाँहें प्रीति प्रलंबित
आलिंगन भरने को अति कोमल पुलकों से कल्पित !
अरुण सुरा प्यालों-से करतल, प्रणय रुधिर से रंजित,
दीप शिखा-सी अंगुलियों पर हीरक छवि नख ज्योतित!
भौंरों की गुंजारों-से श्लथ कुंतल मसृण तरंगित,
जिनके कोमल सुरभित तम में स्वप्न काम के निद्रित !
वाणी के उद्ग्रीव हंस-सी ग्रीवा की शोभा मित,
भाल भृकुटि श्रुति चिबुक नासिका उसके सतत निरुपमित!

स्वर्णिम निर्झर सी रति सुख की जंघाओं पर पेशल,
लिपटी जीवन की ज्वाला उद्दीपन करती शीतल !
नव प्रभात किरणों से चुम्बित रक्त कमल-से पदतल,
लहरा उठती पग पग पर स्वर्गंगा भू पर चंचल !
खिले कपोलों पर सुषमा के पाटल छवि से लज्जित,
अधरों पर मदिरा प्रवाल की बनी मधुर अधरामृत !
इंदु रश्मि के कुंद मुकुल दशनों में द्रवित सहज स्मित,
नील कमल नयनों में नीरज स्वर्ग प्रीति का विकसित !
स्निग्ध स्पर्श बहता प्राणों में अमर चेतना सा नव,
उर को होता चिर प्रतीति की मधुर मुक्ति का अनुभव !

मन में भर जाता स्वर्गिक भावों का स्वर्णिम वैभव
हृदय हृदय का मिल, अभिन्न बनना हो जाता संभव !
यह सौन्दर्य विभा रे उसके अमर प्रेम की छाया,
दिव्य प्रेम देही, सुंदरता उसकी सतरंग काया !
प्रेम सत्य, शिव सार, प्रेम में नित आनंद समाया,
दृढ़ प्रतीति को उसने अपनी चिर पद पीठ बनाया !

ज्योति भारत

ज्योति भूमि,
जय भारत देश !
ज्योति चरण धर जहाँ सभ्यता
उतरी तेजोन्मेष

समाधिस्थ सौन्दर्य हिमालय,
श्वेत शांति आत्मानुभूति लय,
गंगा यमुना जल ज्योतिर्मय,
हँसता जहाँ अशेष !

फूटे जहाँ ज्योति के निर्झर,
ज्ञान भक्ति गीता वंशी स्वर,
पूर्ण काम जिस चेतन रज पर
लोटे हंस लोकेश !

रक्त स्नात मूर्च्छित धरती पर
बरसा अमृत ज्योति स्वर्णिम कर,
दिव्य चेतना का प्लावन भर
दो जग को आदेश !

हिमाद्रि और समुद्र

वह शिखर शिखर पर स्वर्गोन्नत,
स्तर पर स्तर ज्यों अंतर्विकास
चढ़ सूक्ष्म सूक्ष्मतम चिद् नभ में
करता हो शुचि शाश्वत विलास!
वह मौन, गंभीर प्रशांत, ऊर्ध्व
स्थित धी, असंग, चिर निरभिलाष
आत्मा की गरिमा का भू पर
बरसाता हो अकलुष प्रकाश!

वह निर्विकल्प चेतना शृंग
उठ स्वर्ग क्षितिज से भी ऊपर
अंतर्गौरव में समाधिस्थ
अपनी ही सत्ता पर निर्भर!
वह ज्यों असीम सौन्दर्य अमर,
जो तृण तृण पर से रहा निखर,
वह रोमांचित आनंद, नृत्य करता
विमुग्ध भव जिस लय पर!

यह ज्यों अनंत जीवन वारिधि,
अहरह अशांत औ' उद्वेलित,
जिसके निस्तल गहरे रँग में
अगणित भव के युग अंतर्हित!
जग की अबाध आकांक्षा से
इसका अंतस्तल आंदोलित,
सुख दुख आशा आशंका के
उत्थान पतन से चिर मंथित!

यह मनश्चेतना ज्यों सक्रिय
भू के चरणों पर बिखर बिखर
शत स्नेहोच्छ्वसित तरंगों की
बाँहों में लेती भू को भर!
नभ से बन पवन, पवन से जल,
लालायित यह चेतना अमर
सोई धरती से लिपट, जगाने
उसे, युगों की जड़ता हर!

वह महाकाल सा रे अलंघ्य,
जो शाश्वत स्वर्ग मर्त्य प्रहरी,
यह महादिशा सा ही अकूल
जिसमें विराट् संसृति लहरी!
हिमगिरि की गहराई ऊँची
सागर की ऊँचाई गहरी
छाया प्रकाश की संसृति के
जीवन रहस्य में है छहरी!

भू प्रेमी

चाँद हँस रहा निबिड़ गगन में, उमड़ रहा नीचे सागर,
इंद्रनील जल लहरों पर मोती की ज्योत्स्ना रही बिखर!
महानील से कहीं सघन मरकत का यह जल तत्त्व गहन,
जिसमें जीवन ने जीवों का किया प्रथम आश्चर्य सृजन!

जल से भी निष्ठुर धरती का लेकर धीरे अवलंबन
जलज जीव ने सजग बढ़ाए क्रम विकास के प्रथक चरण!
भू के गहरे अंधकार में वही जीव अनिमेष नयन
देख रहा नभ और ज्योति के लिए, जहाँ रवि शशि उडुगण!

धरती के पुलिनों में उसकी आकांक्षाएँ उद्वेलित
फिर फिर उठतीं गिरतीं ऊपर के प्रकाश से आंदोलित!
अच्छा हो, भू पर ही विचरे यह भू का प्रेमी मानव,
मधुर स्वर्ग आकर्षण से नित होता रहे तरंगित भव!

विस्तृत जो हो जाए मानव अंतर, चेतनता विकसित,
आत्मा के स्पर्शों से भू रज सहज हो उठेगी जीवित!
अंतर का रूपांतर हो औ' बाह्य विश्व का रूपांतर,
नव चेतना विकास धरा को स्वर्ग बना दे चिर सुंदर!

निर्भर जन मन के विकास पर सामाजिक जीवन निश्चित,
संस्कृति का भू स्वर्ग अमर आत्मिक विकास पर अवलंबित!

ऊषा

(मन: स्वर्ग)

जो, वह आई चिदवोदय पर
स्वर्ण कलश वक्षोजों पर धर !
अर्ध निवृत कर ज्योति द्वार पट,
ज्वलित रश्मियों की अंजलि भर !
वह पवित्रता सी अभिषेकित,
सद्य: स्फुट शोभा में आवृत,
आई अरुणोदय मंदिर में
पथ प्रकाश का करने विस्तृत !
आनन में लावण्य अगुंठित,
प्रीति दृष्टि आलोक से स्तिमित,
दिव्य चेतना की ऊषा वह
अधर पल्लवों में प्रभात स्मित !

ज्योति नीड़ के विहग जगे, गाते नव जीवन मंगल,
रजत घंटियाँ बजीं अनिल में, ताली देते तरुदल !
झूम विकच नलिनी उर, गूँजे गीत पंख मधुकर दल,
नृत्य तरंगित बहे स्रोत, ज्यों मुखरित भू पग पायल !
बिहँसे हिमकण किरण, गर्भ, स्वर्गिक जीवन के-से क्षण,
खोल तृणों के पुलक पंख उड़ने को भू रज के कण !
खिसका वसुधा के उरोज शिखरों से जल मलयांचल,
सरिता की जाँघों से सरका लहरा रेशम सा जल !
स्वर्ग विभा धरती को छू हो उठी मुरंजित,
ज्योति तमस मिल हुए विश्व द्वाभा में विकसित !
शुभ्र चेतना हँसी हृदय के रागों में स्मित,
जीवन के वैभव से हुई धरा रज कुसुमित !

रंग चपल पुष्प हास पंख खोल भूमि कंत
भृंग गुंजरित, पिकी रटित जगा नवल वसंत !
नव प्रवाल प्रज्वलित श्वसित रजत हरित दिगंत,
गीत गंध मधु मरंद हिम श्वसित समीर मंद !
अमंद रहस गीत नृत्य नाद से दिशा ध्वनित,
अनंत नीलिमा सृजन तरंग भंगिमा गलित !
अबाध कामना मथित समुद्र वारि उच्छ्वसित,
अलंघ्य शैल शृंग मौन चित्र-शांति में जड़ित !

कुंजों के कंपित भूतल पर
ढँक रजत हरित जाली से तन
छाया की बाँहों में आतप
अँगड़ाता स्वप्नों से उन्मन !
दलथ कर कंचुक की पंखड़ियाँ
कलियों के नव उर कर विकसित,
फूलों पर कँपता मलयानिल,
स्वर्णिम मरंद-रज से सुरभित !
लहरों से लिपट रहीं लहरें
तरुओं से लतिकाएँ कोमल,
भू रज पर लोट रहीं किरणें
तरुदल को चूम रहे तरुदल !
स्वर्ण रजत की धूलि से भरा निखिल दिगंबर,
मनश्चेतना चूर्ण उड़ रहा हो ज्यों भास्वर !
दिव्य उषा के मनोहास्य से दिशि आलोकित,
सूक्ष्म सृष्टि नीहार सृजन सुख से आंदोलित !
नव प्रवाल लाली में गुंठित
छुईमुई सी लज्जा कोमल,
मसृण जलद में शशि छाया सी
आ-जा, दिपती छिपती प्रतिपल !
अधरों पर भरती मृदु मर्मर,
कँपते गालों में स्वर्णिम सर,
स्वर्ग विभा रज तन को छूकर
खिलती सकुचाती क्षण क्षण पर !
व्रीडा दौड़ी भू पर आ ऊषा के मुख पर
प्रणय रुधिर से हृदय शिराएँ काँपी थर थर !
अधर पल्लवों में जागा मधु स्वर्णिम मर्मर,
मौन मुकुल मुख खिला लालिमा से रँग सुंदर !
क्या था गिरि कुंजों में, सरित तटों में गोपन,
लिपटी मर्म मधुर लज्जा में जो अमर किरण !
सलज किसलयों का पर आनन पर अवगुंठन
स्वर्ण चेतना बनी लाज मदिरा पी मोहन !
नवल उरोज सरोज हुए सरसी के दोलित,
लहरों का आँचल दे वह तन कम्पी अस्फुट,
अमिट कामना स्पंदित पद्मपद शत स्वर मुखरित
उन्नत, ईषत् नव कलियों का मुख कर चुंबित !

रत्नच्छाया में ज्यों परिवृत
आई सज्जा चरण धर रणित,
मणि मुक्ताओं के कर इंगित
स्वर्ण रजत सुषमा में झंकृत !
पुष्प पँखड़ियों के शत-रँग पर,
तुहिन तरल नव, नव पल्लव कर,
धरती पग कुछ नभ कुछ भू पर
इंद्रधनुष प्रति रजकण में भर !
किया तापसी को नव कलियों ने खिल सज्जित,
मधुऋतु के रंगों की चोली से कर वेष्टित !
लिपटी लता पदों में चल अलियों से गुंजित,
स्वर्ण मंजरित कटि काँची झनकी पिक कूजित !
मल्लिका बनी हृदय का हार,
स्वर्ण गेंदा श्रुति भूषण स्फार,
कचों में गुँथे बकुल सुकुमार
हँसे कंकण बन हरसिंगार !
यूथिका बनी वलय कोमल
कुमुद वक्षोजों बीच तरल
शीश का फूल शिरीष नवल
पदों पर खिल बंधुल पायल !
जलधि-से लहरे चंचल प्राण,
खिला सरसिज सा जीवन-सार,
हृदय के शतदल खुले अजान
मार सुषमा से रँग सुकुमार !
सलिल पर ज्यों पंकज के पत्र
चेतना पर जीवन का भार
लगा तिरने, स्वप्नों का छत्र
पथ सा जमा मनस् साकार !
मर्म में अमृत प्रीति मधुकोष,
दलों में ध्वनित स्पृहा गुंजार,
स्रवे ज्यों जीवन का परितोष
बना शोभा विकास विस्तार !
अमर चरण रँग हृदय राग से, मरण शील बन,
परम अहम्, चेतना बुद्धि बन, तपस से सृजन
करने लगे मनोजीवन का स्वप्नों से धन,
आत्मा का ऐश्वर्य बाँध भावों में मोहन !

तुहिन कणों का मुकुट पहन आनंद बना सुख,
चटुल लहरियों पर चल, किरणों से ढँक स्मित मुख!
स्रोतों में मोती, तरुदल में कांचन मर्मर
रजत अँगुलियों में समीर के पुलक स्पर्श भर!
हृदय शिराएँ झंकृत, पलक निमिष से चंचल,
उतरा वह भू पर पकड़े शोभा का अंचल!
रोमों में विद्युत्, श्वासों में विस्मृति मादन,
मदिर प्रीति की स्वर्ण सुरा का पी संजीवन!

गात्र कनक चंपक ज्योत्स्ना का, केसर पुलकित,
रजत हंस उर के नव इन्द्र जलद से संवृत,
शोभा थी स्वप्नों की कोमलता से कल्पित,
स्वर्ण किंकिणी स्मिति, प्रवाल अधरों पर झंकृत!
सीप छटा सा उदर, नाभि मुक्ताफल सी स्मित,
पुष्प पुलिन जघनों पर चिर लालसा तरंगित,
वह लावण्य वलति थी कटि तनिमा से दोलित
प्रीति पाश बाँहें पुलकों से स्पर्श-प्रलंबित!
उसे देख, वसुधा के स्वप्नों का जग अपलक
रँग रँग की पंखड़ियों में खिल उठा अचानक!
रंगों का हँस उठा इंद्र सम्मोहन व्यापक,
गूँज उठी, कल कूक उठी कामना जग अथक!

मधुलिह चुंबि शिरीष वेणि, लेखा शशि आनन,
सुरभि वाष्प के वसन, हिमानी धौत कुसुम तन,
आई प्रीति, पकड़ प्रतीति का रश्मि-स्पर्श कर,
उर स्पंदन से दोलित, आशा के खोले पर!
स्वप्नों का पट बुन उसने, उर रागों से रँग,
जन्म मरण, सुख दुख, विरह मिलन बाँधे सँग सँग!
उदधि उच्छ्वसित, पृथ्वी पुलकित, अपलक उडुगण,
रहे अवाक् गिरि, किया सभी ने आत्म समर्पण!
प्राणों के स्वप्नालिंगन में बँध वसुधा पर
सृजन-प्राण बन गए स्वयं को भूल चराचर!
रक्त सुरा, संगीत बना उर उर का स्पंदन,
पुलकों में पल्लवित हँस उठे जड़ औ' चेतन!

तुहिन वाष्प के सुरँग जलद से छादित
इंदु रश्मि के इंद्रजाल से स्पंदित,
अर्ध विकच कलिका के उर में जृंभित
स्वप्न दिखाई दिया रहस सुख से स्मित!

स्वर्णिम केसर की अलकें थीं सुरभित
अर्ध खुले, लोचन रहस्य से विस्मित,
ऊर्मिल सरसी सा उर शशि कर गुंफित
इंद्र धनुष छाया पट से तन आवृत !
सृजन प्रदोह हृदय में था चिर गोपन,
मुग्ध कल्पना सँग कर उसने प्रजनन,
भरा धरा में अतुल मनोमय जीवन,
उर उर में मधु आकांक्षा का गुंजन !

हिम कुंदेन्दु समान कल्पना शोभित,
सित सरसिजपरलेटी शशिकर सी स्मित,
धूपछाँह रंग तिर अंचल में अगणित,
करते थे मानस को रँग तरंगित !
प्राणों की झंकृत तंत्री कर में धर
बरसाती उर में रागों के मधु स्वर,
सुघर इंगितों से शोभा पड़ती झर
मर्म मधुर नीरव स्मिति से रस निर्झर !

आई आशा, शशि की रजत तरी पर चढ़कर,
स्वर्ण हास्य से आलोकित कर मेघों का घर !
गीत स्वप्न से ग्रथित मनोजव के खोले पर,
चपल तड़ित् भ्रू भंगों से पुलकित कर अंतर !
रजत पल्लवों की ज्वाला से वेष्टित प्रिय तन,
उदधि ज्वार पर चढ़ फेनों पर करती नर्तन ;
चिर अधखुले उरोजों पर जलते थे उडुगण,
रजस्नात के अभ्रक से ज्योतित भू रज कण !

शरद चंद्रिका स्नात मल्लिका सी नव निर्मल
हिम वाष्पों का झीना पट पहने किरणोज्वल,
शैशव की स्मिति सी प्रतीति आई चिर निश्छल,
भर अनभ्र नीलिमा मौन नयनों में निस्तल !
स्वर्ग सुधा लाइंदु रश्मि घट में हिम जल स्मित
पावन उसने किए हृदय भेदों से पीड़ित,
दशनों की आभा स्मिति से अंतर कर विमलित,
किए प्राण कोमल मृणाल के तंतु में ग्रथित !

लहरों के पुलिनों-से अचपल
जागे धैर्य शौर्य उर संबल,
हिम शिखरों-से उन्नत अविचल
अंतर पौरुष से अरुणोज्वल !

रजत स्वर्ण ज्वाला के सुंदर
कर में धरे त्रिशूल अभयकर,
झंझा लहरों के तुरगों पर
आए वे तम श्रम के जिवर !

नभ-से नीरव निस्तल लोचन,
धरती सा था धीरज का मन,
शौर्य सपंख अद्रि सा शोभन,
छू न सका था जिसे बृहद्दन् !
आत्म त्याग,—तप से दीपित तन,
मृत्यु कंठ, आपद् आभूषण,
प्रकट हुआ, आलिलिज थे नयन,
ममता घन से शून्य उर गगन !
सेवापगा विरति शशि मस्तक
थी विनम्रता उर में नत स्रक्,
शांत गहन निशि नभ सा अपलक,
अथक कर्म रत, भव से अपृथक् !

सेवा उतरी, ज्यों गंगाजल,
कलुष तृषित लहरों से चंचल,
वीतराग तन पर संध्यांचल,
नत मुख पर श्रमकण मुक्ताफल !
स्तिमित दृष्टि थी, अधर सहज स्मित
सेवा का वक्षस्थल विस्तृत;
ध्रुव तारा से पथ चिर ज्योतित,
कांटों को करती थी कुसुमित !
संग कृतज्ञता थी, सजल नयन,
आकुल अंतर, मूक थे वयन,
सुघर कुँई सी स्वप्निल चितवन,
लिपट व्रतति सी जाती तत्क्षण !

विनत मुकुल सा सुहृद था विनय,
ग्रहण शील, चिर निरलस, निर्भय,
वह स्वभाव ही से था सहृदय,
निज अंतर्नभ में तन्मय !
इन्दु विभा ज्यों जलदों से छन
बेला वन में लगती मोहन,
मौन मधुर गरिमा से शोभन
बना शील संस्कृत जग जीवन !

जुगनुओं के ज्योति मंडल से घिरा मुख शांत,
तारिकाओं की सरसि सा स्वप्न स्मित उर प्रांत,
इन्दु विगलित शरद घन सा वाष्प का तन कांत
सजल करुणा सी खड़ी ज्यों इंद्रधूम दिनांत!
अतल नील अकूल नयनों का द्रवित नीहार
अश्रु फेनों से स्फुटित स्पंदित उरोज उभार,
आर्द्र सौरभ श्वास, स्मिति हिम-ग्रस्त हरसिंगार,
स्खलित होते स्रोत भू से सुन चरण झंकार!

सहचरी थी क्षमा, गौरव रश्मि चुम्बित भाल,
युग पयोधर थे सुधास्रुत् ज्योति कलश विशाल;
न्याय को धर अंक में मुज चूमती थी बाल,
दृष्टि पथ पर पंख खोले शुभ्र रजत मराल!
दीप ली सी थी अंगुलियाँ बरद कर में स्फार,
चूम अधरों को सुरा बनती सुधा की धार;
स्पर्श पा हँसता पुलक सुख से व्यथा का भार,
मर्त्य से था स्वर्ग तक दृग नीलिमा विस्तार!

आभा देही श्रद्धा प्रकटी अंतर्लोचन,
उर की सार सुरभि से कल्पित था प्रिय-श्री तन;
बरसाती आशीष रश्मि सी स्वर्गिक जितवन,
दिव्य रजत नीहार शांति से मंडित आनन!
भू प्रदीप की शिखा स्वर्ग की ओर ऊर्ध्वेचित्
वह निश्चल निष्कंप, स्तंभ किरणों की शोभित,
सूक्ष्म चेतना सिन्धु मथन से स्वतः प्रस्फुटित,
शुभ्र उषा सी थी उर नभ में उदित अगुंठित!

साथ भक्ति थी रोमांचों की झक् सी पावन,
नयनों के अश्रुओं से झरते थे प्रकाश कण!
अधरों के पुलिनों पर बहता स्मिति का प्लावन,
उर-कंपन में बजते प्रिय पग नूपुर प्रतिक्षण!
तप्त कनक द्युति देह, सहज चंदन सी वासित,
गैरिक शृंगों-से उरोज थे, अश्रु माल स्मित;
सित कर्पूर शिखर सी, दिव्य शिखा से दीपित,
सांध्य पद्म सा ध्यान मग्न उर प्रिय को अर्पित!

रक्त घनों की दीप गुहा से दृष्टि कर चकित,
ज्वलित अर्चियों की प्रतिमा, हो तड़ित् सी स्फुरित,
दौड़ी मानस लहरों पर आलोक चमत्कृत,
सुरंग खर्गों-से उड़ते थे स्वर शब्द कल ध्वनित!

वर्ण वर्ण की गलित दिशा से लवित कलेवर,
चपल चौकड़ी भरता शशि मृग था प्रिय-सहचर ;
तिरम सुरभि सी उड़ती थी मारुत पंखों पर,
दिव्य प्रेरणा किरणों की जाली मुख पर धर !
मुक्ति, सत्य औ' श्रेय अंत में हुए अवतरित,
सृष्टि पद्म सी मुक्ति हुई दश दिशि में विकसित ;
बंधन हीन विविध बंधन में बँधती वह नित,
सूक्ष्म वाष्प से हिम, हिम से बन वाष्प अपरिमित !
मुक्ति पद्म पर धरे, सत्य आलोक के चरण
हँसता था, आनन से उठा हिरण्मय गुंठन,
निज-पर को ज्यों भूल धरा के जड़ औ' चेतन
सत्य बन गए, स्वयं सत्य था रज का प्रतिकण !

सत्य सुदूर समीप, सत्य था भीतर बाहर,
सत्य एक बहु, सूक्ष्म स्थूल, केवल, क्षर अक्षर ;
धरा सत्य थी, सत्य पवन जल पावक अंबर,
सत्य हृदय मन इंद्रिय, सत्य समस्त चराचर !
अकथनीय था सत्य, ज्योति में लिपटा शाश्वत,
अणु से भी लघु देह ज्वलित गिरि शृंग सी महत् ;
दृष्टि रश्मि थी ज्योति पथिक औ' स्वयं ज्योति पथ,
धावित स्थिर, जाज्वल्यमान शुभ सप्त अश्व रथ !
किरणों के द्रवप्रिम नभ सी मुक्ति थी अमित,
शुभ्र हंस घेरे थे उसको पंख खोल स्मित ;
था अकूल आनंद उदधि उर में उद्वेलित,
ज्योति चूर्ण झरता अंगों से मुक्त अनावृत !

तरुण सत्य के अर्ध विवृत जघनों पर शिर धर,
लेटी थी वह दामिनि सी रुचि गौर कलेवर ;
गगन अंग - से लहराए मृदु कच अंगों पर,
वक्षोजों के खुले घटों पर लसित सत्य कर !
समाधिस्थ था श्रेय, सत्य आरूढ़ निरंतर,
धरे अंक में भू को, सुर जल स्रोत शीर्ष पर ;
ताप गले में, सुधा शांति मस्तक पर भास्वर,
लिपटा तन से भाव विभूति, अभाव भोगधर !
देश काल सदसत् से पर, त्रिक् तपः शूल धर,
देवों का पोषक था वह, दैत्यों का जित्वर ;
काम क्रोध मद मत्सर थे उसके पद अनुचर,
वह स्वर्णिम किरणों से मंडित, पाप तमस हर !

इस प्रकार चिर स्वर्ग चेतना हुई प्रतिष्ठित
जीवन शतदल पर, मन के देवों से भूषित ;
जड़ धरणी के ताप शाप दुख दैन्य अपरिमित
काकों-से पर खोल, हुए लय तमस में अचित् !

चंद्रोदय

वह सोने का चाँद उगा ज्योतिर्मय मन सा,
सुरँग मेघ अवगुंठन से आभा आनन सा !
उज्ज्वल गलित हिरण्य बरसता उससे झर झर,
भावी के स्वप्नों से धरती को विजड़ित कर !

दीपित उससे अंतरिक्ष पर मेघों का घर,
वह प्रकाश था कब से भीतर नयन अगोचर !
इंदु स्रोत से ही रस स्रवित निभृत अभ्यंतर,
प्राणों की आकांक्षा के वैभव से सुंदर !

वह प्रकाश का बिम्ब मोहता मानव का मन,
स्वप्नों से रंजित करता भू का तमिस्र घन !
आत्मा का पूषण वह, मनसोजात चंद्रमस्,
जिससे चिर आंदोलित जग जीवन का अंगस् !

देव लोक मेखला, इंदु पूषण का अंतर,
सृजन शक्तियाँ देव, इंद्र है जिनका ईश्वर !
दिव्य मनस् वह, निखिल विश्व का करता चालन,
पोषित उससे अन्न प्राण मन का जग जीवन !

वह सोने का चाँद उठा ज्योतित अधिमन सा,
मानस के अवगुंठन के भीतर पूषण सा !
दुग्ध धार सी दिव्य चेतना बरसा झर झर,
स्वप्न जड़ित करता वह भू को स्वर्जीवन भर !

द्वा सुपर्णा

दो पक्षी हैं : सहज सखा, संयुक्त निरंतर,
दोनों ही बैठे अनादि से उसी वृक्ष पर !
एक ले रहा पिप्पल फल का स्वाद प्रतिक्षण,
बिना अशन दूसरा देखता अंतर्लोचन !

दो सुहृदों - से मर्त्य अमर्त्य सयोनिज होकर,
भोगेच्छा से ग्रसित, भटकते नीचे ऊपर,
सदा साथ रह, लोक लोक में करते विचरण,
ज्ञात मर्त्य सब को, अज्ञात अमर्त्य चिरंतन !

कहीं नहीं क्या पक्षी ? जो चखता जीवन फल,
विश्व वृक्ष पर तीड़, देखता भी है निश्चल !
परम अहम् औ' द्रष्टा भोक्ता जिसमें लेंग सँग,
पंखों में बहिरंतर के सब रजत स्वर्ण रँग !
ऐसा पक्षी, जिसमें हो संपूर्ण संतुलन,
मानव बन सकता है, निर्मित कर तरु जीवन !
मानवीय संस्कृति रच भू पर शाश्वत शोभन,
बहिरंतर जीवन विकास की जीवित दर्पण !
भीतर बाहर एक सत्य के रे सुपर्ण द्वय,
जीवन सफल उड़ान, पक्ष संतुलन जो, विजय !

व्यक्ति और विश्व

यह नीला आकाश न केवल,
केवल अनिल न चंचल,
इनमें चिर आनंद भरा
मेरी आत्मा का उज्ज्वल !
हलकी गहरी छायाओं के
घिरते जो रँग - बादल,
मेरी आकांक्षा की विद्युत्
बहती उनमें प्रतिपल !

मेरे प्राणों की श्यामलता
तृण तरु दल में पुलकित,
मेरे उर की प्रणय भावना
कलि कुसुमों में रंजित !
मैं इस जग में नहीं अकेला
मुझको तनिक न संशय,
वही चाह है कण कण में
जो मेरे उर में निश्चय !

मेरे भीतर परिभ्रमित ग्रह,
उदित अस्त शशि दिनकर,
मैं हूँ सबसे एक, एक रे
मुझसे निखिल चराचर!
कब से हो जग से वियुक्त
मेरा अंतर था पीड़ित,
आज खड़ा भाई बहिनों के
संग मैं चिर आनंदित!

प्रभात का चाँद

नील पंक में धँसा अंश जिसका
उस श्वेत कमल सा शोभन
नभनीलिमा में प्रभात का
चाँद उनींदा हरता लोचन!
इसमें वह न निशा की आभा,
दुग्ध फेन सा यह नव कोमल,
मानवीय लगता नयनों को
स्नेह-पक्व सकरुण मुख मंडल!
तिरते उजले बादल नभ में
बेला कलियों से कुम्हलाए,
उड़ता संग संग नाग दंत सा
चाँद, सीध के पर फैलाए!
आभा इसकी हुई अंतरित
यह शशि मानो भू का वासी,
यह आलोक मनस् है, मुख पर
जीवन श्रम की भरी उदासी!
दिव्य भले लगता हो किरणों से
मंडित निशिपति का आनन,
गौर मांस का सा यह शशि मुख
माता मुझको ज्योति प्राण मन!
उदित हो रहा भू के नभ पर
स्वर्ण चेतना का नव दिनकर
आज सुहाते भू जीवन के
पावन श्रमकण मानव मुख पर!

ऐसे ही परिणत आनन सा
यह विनम्र विधु हरता लोचन,
भू के श्रम से सिक्त, नम्र
मानव के शारद मुख सा शोभन!

हरीतिमा

(प्राण)

ओ हरित मरित घन अंधकार!
तृण तरुओं में हँस हँस श्यामल
दूर्वा से भू को भर कोमल,
ढँक लेते जीवन को प्रतिपल
तुम प्राणों का अंचल पसार!

सुख स्पर्शों से अणु अणु पुलकित,
मादकता से उर उर स्पंदित,
गति जब से श्वास अनिल नर्तित,
नित रंग प्राण करते विहार!

तुम प्राणोदधि चिर उद्वेलित
जीवन पुलिनों को कर प्लावित,
जड़ चेतन को करते विकसित
अग जग में भर नव शक्ति ज्वार!

तुममें स्वप्नों का सम्मोहन
आकांक्षा की मदिरा मादन,
आवेगों का मधु संघर्षण,
दुर्धर प्रवाह, गति, रव, प्रसार!

जग जीवन को कर परिशोभित,
इच्छाओं के स्तर स्तर हर्षित,
रागों द्वेषों से चिर मंथित,

निस्तल अकूल तुम दुर्निवार!
ओ रोमांचित हरितांधकार!

छाया पट

मन जलता है,
अंधकार का क्षण जलता है,
मन जलता है!
मेरा मन तन बन जाता है,
तन का मन फिर कट कर,
छंट कर,
कन कन ऊपर
उठ पाता है!
मेरा मन तन बन जाता है!

तन के मन के श्रवण नयन हैं,
जीवन से संबंध गहन हैं,
कुछ पहचाने, कुछ गोपन हैं,
जो सुख दुख के संवेदन हैं!
कब यह उड़ जग में छा जाता,
जीवन की रज लिपटा लाता,
थिर मेरे चेतना गगन में
इंद्रधनुष घन बन मुसकाता?
नहीं जानता, कब, कैसे फिर
यह प्रकाश किरणें बरसाता!
बाहर भीतर ऊपर नीचे
मेरा मन जाता आता है,
सर्व व्यक्ति बनता जाता है!

तन के मन में कहीं अंतरित
आत्मा का मन है चिर ज्योतित,
इन छाया दृश्यों को जो
निज आभा से कर देता जीवित!
यह आदान प्रदान मुझे
जाने कैसे क्या सिखलाता है!
क्या है ज्ञेय? कौन ज्ञाता है?
मन भीतर बाहर जाता है!

मन जलता है,
मन में तन में रण चलता है,
चेतन अवचेतन नित नव
परिवर्तन में ढलता है!
मन जलता है!

भू लता

घने कुहासे के भीतर लतिका दी एक दिखाई,
आधी थी फूलों में पुलकित, आधी वह कुम्हलाई!
एक डाल पर गाती थी पिक मधुर प्रणय के गायन,
मकड़ी के जाले में बंदी अपर डाल का जीवन!
इधर हरे पत्ते यात्री को देते मर्मर छाया,
उधर खड़ी कंकाल मात्र सूनी डालों की काया!
विहगों के थे गीत नीड़, कृमि कुल का कर्कश क्रंदन,
मैं विस्मय से मूढ़, सोचता था क्या इसका कारण!

बोली गुंजित हरित डाल, साँसें भर सूखी टहनी,
मैं हूँ भाग्य लता अदृष्ट, मैं सगी काल की बहनी!
सुख दुख की मैं धूपछाँह सी भव कानन में छाई,
आधे मुख पर मधुर हँसी, आधे पर करुण रुलाई!
शूल फूल की वीथी, चलता जिसमें रोना गाना,
खोज खोज सब हार गए, मुझको न किसी ने जाना!
मैंने भी ढूँढ़ा, पर मुझको मूल न दिया दिखाई,
वह आकाश लता सी जीवन पादप पर भी छाई!

जन मन के विश्वासों से बढ़ती थी वह हो सिंचित,
एक दूसरे से लिपटे थे, जिससे थी वह जीवित!
सब मिल उसको छिन्न भिन्न कर सकते थे यह निश्चित,
किन्तु उसी के बल पर रे मानव मानव से शोषित!
नाच रही जो ज्योति ज्योति पिंडों में वैभव भास्वर,
कहती वह, यह छाया मेरी नहीं, तुम्हारी भू चर!
छोड़ो युग युग का छाया मन, बरो ज्योति मन भव जन,
प्राक्तन जीवन बना भाग्य, चेतना मुक्त हो नूतन!

कौवे के प्रति

तरु की नग्न डाल पर बैठे लगते तुम चिर सुंदर,
कोविदार के शकुनि, पार्श्वमुख, संध्य कपिश नभ पट पर!
कृष्ण कुहू में जनमे तुम तरु कोटर में, वन नभचर,
तारों की ज्यों छाँह गले पड़ गई नीड़ से छनकर!

पंखों की काली उड़ान तुम भरते नित ऋजु कुंचित,
शुभ्र ज्योति का तुम पर कभी प्रभाव न पड़ता किंचित्!
रंग नहीं चढ़ता जिस पर वह यती व्रती है निश्चित!
समित् पाणि मैं प्रश्न पूछता तुमको मान विपश्चित!
तुम भविष्य वक्ता जग विश्रुत, प्रणय दूत कवि कीर्तित,
मढ़वा चुके चोंच सोने में फिर फिर प्रीति पुरस्कृत!
क्या है जग के दुरित दैन्य का कारण? खग, दो उत्तर,
कलुष कालिमा की होगी कालिमा तुम्हारी सहचर!

मंत्री वृद्ध तुम्हारे कौशिक, दिवाभीत चमगादर,
जाग्रत् रहते भूत निशा में तरु सेवी तापस वर!
गरदन मटका हिला करट, कुछ विस्मित, कुछ चिन्तन पर,
एक चक्षु को पलट, दूसरे लोचन पुट में सत्वर;
मैंने कहा, मुखर भाषी, क्या तुमको कहने में डर!
यह महत्त्व का प्रश्न लोक जीवन है इस पर निर्भर!
काँव काँव कर कहा काक ने ग्राम्य भणिति में निश्चय
काम, काम है तापों का कारण, या उसका आशय!

मैंने पूछा, मोह काम से पीड़ित जग निःसंशय,
किन्तु, कौन पा सकता, बलिभुज्! अमिट कामना पर जय!
पक्षपात कर उड़ा विहग, काले प्रकाश से भर मन,
समाधान मेरी शंका का उस तम में था गोपन!
पक्षपात है नाम कामना का, जो दुख का कारण,
उज्ज्वल सभी प्रकाश नहीं रे, काला नहीं सभी तम!
इस प्रकाश के शिखी पिच्छ-से रूप अनेक मनोहर,
जिनमें लिप्त मनुज मन रहता लोभ स्वार्थ हित तत्पर!

अंधकार के रूप विविध, घनश्याम इंद्रधनु जलधर,
उर्वर रखते भू को, मोहक काली कोयल के स्वर!
ज्योति हंस औ' तमस काक इन दोनों से जो है पर
उसी सर्वगत पर जो केन्द्रित रहे मनुज का अंतर,
हंस रहे जग में मयूर औ' वायस रहें परस्पर,
सबके साथ अपापविद्ध, स्थित प्रज्ञ रहे जग में नर!
श्वेत कृष्ण मिल, रंग-पूर्ण नित धरें जगत जीवन पथ,
पक्षपात से रहित मनुज हो विरत, विश्व में भी रत!
किया हृदय ने ज्योति श्याम परभृत् का मन में स्वागत,
दीप तले के तम के छाया खग, तुम दीप शिखावत्!

सविता

लो, सविता आता सहस्रकर,
सविता, उज्ज्वल व्योम पृष्ठ पर,
नव्य रश्मियों से ज्योतिर्मय,
अंतरिक्ष को आलोकित कर!
सप्त अश्व से सप्त लोक कर
पार, वेग में दिव्य तेज भर,
वह महेन्द्र आ रहा घिरा, निज,
किरणों से त्रिभुवन का तम हर!

उठो, मनुष्यो, जागो, करो
उषाओं का दिव में अभिवादन,
मार्ग उन्होंने खोल दिया
सविता का, जो ज्योतिर्मय पूषण!
अंधकार हट गया, प्राणमय
नव जीवन हो रहा प्रवाहित,
वह महेन्द्र आ रहा, रश्मियों से
आमृत, प्रकाश से आवृत!

अंधरूढ़ि पर चलने वाले
आज पा गए हैं अभिनव पथ,
नव प्रकाश का सूर्य उन्हें
मिल गया, दमकता सप्त अश्व रथ!
स्वर्ग ओर नित धावमान, उस
दिव्य हंस के पंख ज्योतिमय
फैले हुए सहस्र दिनों से,
बढ़ता ही जाता वह निर्भय!
सब भुवनों को देखता हुआ
देवों को ले हृदय में सकल,
व्याप्त सर्व लोगों में वह
फैले अपार पंखों में विक्षिपल!
हाउ हाउ, वह स्वर्ण पुरुष,
वह ज्योति पुरुष मैं हूँ अजर अमर!
झरते सप्त धार सोने के
सतत मातरिश्वा से निर्झर!

स्वर्णोदय

(जीवन सौन्दर्य)

जयति, प्रथम जीवन स्वर्णोदय,
रक्त स्फीत, लो, दिशा का हृदय !
काल तमस व्यवधान चीर कर
किसने मारा स्वर्ण पंख शर ?
जय, अमर्त्य जीवन यात्री, जय !

देखो, कोमलार्त कर क्रंदन,
किसने जग में किया आगमन !
(यह क्या भू का रुदन सनातन ?)

पलकों में जग उठे निमिष क्षण,
स्तब्ध हृदय में दिशि का स्पंदन !
गुहा दृढ चित् स्रोत हो स्खलित
जीवन पथ में हुआ प्रवाहित !
मुक्त अरूप रूप धर सीमित,
श्वासों से कर गमन तरंगित !

(शैशव)

मंगल गायन !
मंगल वादन !
क्यों न मनाएँ जन्मोत्सव जन !
धन्य आज का पुण्य दिवस क्षण,
फिर अमर्त्य ने धरा मर्त्य तन !

स्वागत, स्वागत,
प्रयत नदागत,
हो प्रशस्त तेरा जीवन पथ,
जग के शूल फूल हों अभिमत,
प्रिय शिशु, तू हो पूर्ण मनोरथ !

ओ मा, वह रोता है, उसको स्तन्य पिलाओ,
वह अशक्त, असहाय, उसे निज अंक लगाओ !
कैसे पार करेगा दुर्गम जगती का मग,
वह निर्बल निर्वीर्य पथिक, वह पंख हीन खग !

लोरी गाओ, लोरी गाओ,
फूल दोल में उसे झुलाओ ;
निदिया की प्रिय परियो, आओ,
मुन्ना का मुख चूम सुलाओ !
स्वप्नों के छाया पंखों को
नन्हें के ऊपर सिमटाओ !

चंद्र लोक की परियो, आओ,
स्मिति से सुधा अधर रँग जाओ,
मलय सुरभि की चंचल परियो,
साँसों से आँचल भर लाओ !
जुगनूँ झमका, वन की परियो,
झिलमिल कर पलकें झपकाओ,
रिमझिम कर, मेघों की परियो,
लालन का गा हृदय रिझाओ !
अहरह उर कंपन में दोलित,
मर्म स्पृहा की मूर्ति देख स्मित,
मुग्ध नव जननि, बलि बलि जाओ,
लाड़ लुटाओ, प्यार लुटाओ,
लोरी गाओ !

स्निग्ध पूस की धूप, स्वर्ग आशीर्वाद सी,
बरस रही भू पर शैशव के मुक्त ह्लाद सी !
स्वच्छ प्रकृति मुख, सौम्य दिशा स्मिति, शांत विहायस,
शीतलोष्म पंखों के सुख में सिमटा सालस !

नलिनी उर में लेटा हिमजल
बाल चेतना सा तारोज्वल,
हँसमुख, निर्मल, चंचल !
लो, वह नटखट पाँव चलाता,
कौन उसे बढ़ना सिखलाता ?
क्रंदन था जिसका संभाषण,
वह अस्फुट स्वर में तुतलाता !

दुधमुँही सरल मधुर मुसकान
न जाने कहती किन अनजान
रहस्यों के नीरव आख्यान !
कौन अप्सरियाँ आ चुपचाप
कर रहीं उससे मौनालाप,
फूटती स्वप्न सरित स्मिति आप !

नाम रूप के जग को, केवल
वह चितवन स्पर्शों से प्रतिपल
अंकित करता उर में कोमल !
ताराओं से भरा गगन !
स्वप्नों का-सा वन
उपजाता मन में संवेदन !

लो, चंदा ने
चाँदी की नैया में मोहन
बिठा लिया अब लालन का मन,
पलने में हिलता डुलता तन !

दीप शिखा के लिए वह मलय,
नचा रहा निज कोमल करतल !
चूँ चूँ करती चिड़िया सुंदर
फूल पाँखुड़ी उड़ती फर् फर्,
उन्हें बनाने निज सुख सहचर
पास बुलाता वह इंगित कर !
सोच रहा ज्यों एकटक नयन,
मौ माखी क्या कहती मन मन
कानों में भर गुंजन !

मर्मर, मर्मर !
तरुओं के चल पत्र रहे झर !
विरल टहनियों की जाली से
लगता मुझे प्रशस्त दिगंतर !
यह लो, नव शिशु सा ही सुंदर
निखिल विश्व बन गया दिगंबर,
नवल पल्लवों से वह मांसल
वेष्टित होगा सत्वर !

कहाँ जरा रे ? कहाँ है मरण ?
सृजन शील जग का परिवर्तन !
कौन, कहाँ के क्षणिक पांथचर
कहाँ अरे जा रहे निरन्तर
ये पीले पत्ते उड़ उड़ कर ?
धरती इनसे क्यों न गई भर !

कब से झर झर
चुपके हँस कर
ये किस पर हो रहे निछावर ?
क्या ये उड़ते पत्ते केवल ? कौन यहाँ दे उत्तर !

यह अनंत यात्रा का रे पथ,
शिशु अनंत का यात्री शाश्वत,
वह अनादि से नित्य नवागत,
अपने ही घर का अभ्यागत !
सूर्य चंद्र उसके ही लोचन,
श्वसन उसी के उर का स्पंदन,
उसका आत्म प्रसार दिशा क्षण,
महाश्चर्य रे, पुरुष पुरातन,—
आदि सृष्टि का कारण,—
शिशु, अनंत का पांथ चिरंतन !

क्रम विकास के पथ से निश्चित
विश्व नीड़ कर अपना निर्मित,
जननि जनक में स्वयं विभाजित
वह अवतरित हुआ था विकसित !
कोटि योनि, शत कोटि जन्म तर
विविध भ्रूण स्थितियों में बढ़कर,
दिव्य अतिथि वह मनुज देह धर
आया फिर से, मर्त्य बन अमर !

देखो, देखो आँखें भर
कैसा रहस्यमय ईश्वर !
देखो हे आँखें भर
कैसा सुंदर ईश्वर !

(यौवन)

स्वर्ण मंजरित आम्र कानन,
कोकिला करती कल कूजन,
सूँघ चख चूम फूल आनन,
झूम मधुलिह् भरते गुंजन !
आज मन वारिधि उद्वेलित
नभो नीलिमा बनी विस्तृत,
डोलता मारुत रोमांचित,
साँस पी फूलों की सुरभित !

रजत किंकिणियों सी कल-कल
लहरियाँ थिरक रहीं चंचल,
कँप रहीं वल्लरियाँ कोमल
खोलतीं कलियाँ वक्ष नवल !

रंग प्राणों का स्वर्णिम लोक
कहाँ था यह अदृश्य चुपचाप,
हँस उठा इंद्रधनुष में आज,
हृदय का छाया वाष्प कलाप !
बज उठा जीवन में मधु छंद
किसी की सुन नीरव पद चाप,
भाव गरिमा से भरा अनंत,
मुखर स्वर से अब मौनालाप !

युवक नव युवति विचरते आज
मर्म में स्पृहा, दृगों में लाज,
न अब कैशोर भीति का भाव
आज उनसे चरितार्थ समाज !
बने वे नर-नारी मोहन,
न अब जीवन रहस्य गोपन,
न परियाँ देतीं शिशु को जन्म,
सृष्टि में निहित जनन पावन !

नीलिमा क्यों नीरव निस्तब्ध,
स्रवंती बहती क्यों कल कल ?
ज्ञात अब, खिलते क्यों कुड्मल,
गंधवह फिरता क्यों चंचल !
न रोके रूकते चपल नयन,
मीन तिरते, उड़ते खंजन,
अधर से मिलते मधुर अधर,
मुग्ध कलि अलि करते चुम्बन !

बाँह यदि भरतीं आलिंगन,
लताओं से लिपटे तरुगण,
प्रबल रे फूलों का बंधन
अमिट प्राणों का! आकर्षण
आज भ्रू लतिकाओं में भंग,
अतनु तन-शोभा प्रीति-तरंग,
गढ़े किस शिल्पी ने ये अंग,
निछावर निखिल प्रकृति के रंग !

स्पर्श में बहती प्राण तड़ित्
स्वतः तन हो उठता पुलकित,
हृदय स्वप्नों से जग रंजित,
उषा अब इंद्रधनुष वेष्टित!

मिलते सहसा मौन नयन, अपलक-से रह जाते क्षण,
नव प्रवाल अधरों में बहती मदिरा ज्वाला मादन!
प्राणों की चिर तृषा फूट बनती पुलकों के बंधन,
कौन भूल सकता है रे नव यौवन का सम्मोहन!
मर्म कामना युगल स्वर्ण कलशों में मूर्त गई भर,
चपल नयनिमा ने पाए मृदु फूलों के मादक शर!
यह लज्जा सज्जा सुषमा मधुरिमा कहाँ थी गोपन,
नव यौवन औ' प्रथम प्रणय औ' मुग्धा तरुणी का तन!
कौन बाँध सकता अजस्र उद्दाम वेग निर्झर का,
कौन रोक सकता अबाध उद्वेलन रे सागर का!
मदोन्मत्त यौवन का, मेघों का अदम्य आलोड़न,
चकित नहीं कामिनी दामिनी करती किसके लोचन!

सरित पुलिन अब लगते शोभन,
बह जाता धारा के संग मन!
मधुर, मौन संध्या का आँगन,
प्रिय, स्वप्नों में सजग निशि गगन!
कूजन गुंजन गंध-समीरण
सब में मर्म मधुर संवेदन,
तरुण भावनाओं से रंजित
मुकुलित नव अंगों का उपवन!

स्वर्ण नील भृंगों से झंकृत, कोकिल स्वर से कीर्तित
अपलक, रत्न खचित, मधु वैभव मन को करता मोहित!
ताराओं से शत लक्षित, ज्योत्स्ना अंचल में वेष्टित
उदय हृदय में होता फिर-फिर लेखा शशि मुख परिचित!
शरद निशा आती सलज्ज मुग्धा सी शंकित,
मुक्त कुंतला वर्षा तनु चपला सी कंपित,
सुरभित ऊष्मा सुघर मल्लिका लक् से दोलित,
लिपट मधुर हिम जाती तन से आतप सी स्मित!

खुल पड़ता उर का वातायन
बहती प्राण मलय चिर मादन,
कहीं दूर से आता भीतर
प्रणयाकुल पंचम पिक गायन!

आओ हे चिर स्वप्न सखी, आकुल अंतर में आओ,
फूलों की नव कोमलता में जीवन को लिपटाओ!
इन प्रिय स्नेह सरों में अपलक शरद नीलिमा जागृत,
चपल हंस पंखों से चुंबित सरसिज श्री बरसाओ!
इस प्रवाल के प्याले की मधु मदिरा सखि, उर मादन,
तुहिन फेन स्मित प्रीति सुधा घट स्वर्णिम मुझे पिलाओ!

स्नेह लता-सी पुलक पाश में कस मुकुलों के कोमल
उर में सुमधुर उर सी, तन में तन सी मृदुल समाओ!
सुरभित साँसों के पलने में मर्म स्पृहा कर दोलित
फूलों के मधु शिखरों पर प्राणों के स्वप्न सुलाओ!
इन मांसल चंपक झरनों से लिपटी विद्युत् लपटें,
प्रणय उदधि में अंतर की ज्वाला को अतल डुबाओ!
लेटा नव लावण्य चाँदनी सा वेला के वन में,
खिलती कलिकाओं की शोभा कोमल सेज सजाओ!
स्वप्नों की पी सुरा आज यौवन जागे विस्मृति में,
चंचल विद्युत् को सलज्ज ज्योत्स्ना के अंक लगाओ!
आओ हे प्रिय स्वप्न संगिनी, आकुल उर में आओ!

पति-पत्नी अब बने प्रणयि जन,
निखिल प्रकृति करती अभिनंदन;
अह, कैसा निष्ठुर निर्मम जग
सम्मुख क्यों जीवन संघर्षण!
हृष्ट पुष्ट नव युग्मों का तन,
रुधिर वेग में झंकृत जीवन;
आत्म भाव से विस्तृत लोचन,
शौर्य वीर्य से विकसित नव मन!

नहीं मानता उर दुविधाएँ बाधा बंधन,
वह निशंक, निर्भीक सह्य उसको न नियंत्रण!
चिर अदम्य उत्साह हृदय में स्पंदित प्रतिक्षण,
यह यौवन की आशा अभिलाषा का प्लावन!
अह, क्या करती रहीं पलित पीढ़ियाँ आज तक,
रक्त पंक जन धरणी का इतिहास भयानक!
रोग शोक, मिथ्या विश्वास, अविद्या व्यापक,
नंगे भूखे लूलों का जग हृदय विदारक!
कौन रहे इस क्रूर सभ्यता के संस्थापक,
यह जन-नरक कलंक मनुजता का, भू पातक!

बदलेंगे हम चिर विषण्ण वसुधा का आनन,
विद्युत् गति से लाएँगे जग में परिवर्तन !
क्यों न मंजरित युवकों का हो विश्व संगठन,
नव यौवन आदर्शवादिता भरे न नूतन !
क्या करते ये धनकुबेर, पंडित, वैज्ञानिक,
दिशाभ्रांत क्यों हो जाते राष्ट्रों के नाविक !
ज्ञात नहीं क्या लोक नियति है आज भू पथिक,
वर्ग राष्ट्र से लोक धरा का श्रेय है अधिक !
दिवस ज्योति सा सार सत्य यह गोचर निश्चित,
मनुष्यत्व है रीति नीति धर्मों से विस्तृत !
संस्कृति रे परिहास, क्षुधा से यदि जन कवलित,
कला कल्पना, जो कुटुंब तन नग्न, गृह-रहित !

आओ, मुक्त कंठ से सब जन
भू मंगल का गाएँ गायन,
वंदे मातरम् !
जन धरणी जन भरणी
रत्न प्रसविनी मातरम् !
नृत्य हरित, पिक कूजित यौवन,
अनिल तरंगित उदधि जल वसन,
छत्र सूर्य शशि दीप्त नत गगन,
प्रणयाकांक्षी स्वर्ग चिरंतन,
वंदे मातरम् !
बजे क्रांति तूरी जन मादन,
कुडुम कुडुम हो जय दुंदुभि स्वन,
जीवन हित मानव वरे मरण,
मृत्यु अंक में भी गाएँ जन,
वंदे मातरम् !
भू मन के टूटें जड़ बंधन,
रूढ़ि रीति से मुक्त बनें मन,
दैन्य दुरित के हटें तमस घन,
स्वर्ण प्रभात जड़ित हों प्रांगण !
वंदे मातरम् !

दिशा लोक श्रम से हों हर्षित ;
काल विश्व रचना में योजित ;
भव संस्कृति में देश हों ग्रथित ;
जन संपन्न जगत मनुजोचित ;
वंदे मातरम् !

स्वर्ण कणों के मौर न अब, फूलों की ज्वाला के वन,
कितने चुंबे, भरे धरती पर, झंझा का भव कानन!
लदी फलों से जीवन डालें, रस में सब रंग गोपन,
विश्व प्रकृति का रे अपार अक्षय वैभव दिङ्मोहन!
भू की रज को कर कृतार्थ बीता निदाघ अब भीषण,
तिग्म करों से खींच सिन्धु पलनों से वाष्पों के घन!
तप्त श्वास सा ग्रीष्म पवन भी शांत हुआ झुलसा तन,
विकसित वर्धित परिणत कर पुष्पित वसंत का यौवन!

वर्षा आई, धूम्र नील नभ में छाया घन घर्षण,
तीव्र लालसा तड़ित् जगी-सोई, कर गर्जन तर्जन!
मधु मरंद से रंजित भू का गर्भ हुआ फिर उर्वर,
नव प्रवाल प्रज्वलित तरु क्षितिज बना गाढ़ श्यामलतर!
नृत्य तरंगित हुए स्रोत नव, गए प्ररोह नवल भर,
सृजन शक्ति ने अणु अणु में फिर लगा दिए जीवन पर!
प्रणय गीत, मृदु जनन स्वरों से मुखरित हुआ दिगंतर,
जीवन की रिमझिम अजस्र रे, संसृति की सावन झर!

पृथक् न अधिक रहा नारी जग
नरे पुरुष के संग उसने पग,
रंग तरंगित जिसकी श्री से
कुसुमित सुषमित जग का मग मग!
गुड़ियों के संग प्रिय किशोर क्षण
बीते, उर में भर मृदु कंपन,
खींच कुसुम धनु तन, यौवन ने,
किया रूप सम्मोहन वर्षण!
वक्ष श्रोणि ने वह, कटि ने छंद
सौष्ठव रेखाएँ कीं रूपित,
मुग्ध नयनिमा, सलज लालिमा,
पद जड़िमा में तरुणी चित्रित!

शोभा कंपती लहरी सी उठ
हुई देह तनिमा में स्तंभित,
देख मुकुर-से तन में निज मुख
रही मधुरिमा छवि से विस्मित!
कोमलता वह कल्पलता सी
अंगभंगि में हुई प्रस्फुटित,
सुंदरता ही प्रीति तूलि से
बनी मोहिनी प्रतिमा जीवित!

हुए रूपसी के नव अवयव
यौवन के आतप में विकसित,
मधुर स्त्रीत्व में धातृ कल्पना
सृजन कला के कर से मूर्तित!
जगा सलज चेष्टाओं में अब
नव लीला लावण्य अकल्पित,
पलक भृकुटि अंगुलि चालन में
छवि की दीप शिखाएँ कंपित!

तिमिर ज्वाल सा केश जाल घन
पृष्ठ देश पर हुआ प्रज्वलित,
आभा जीवी नयनों को कर
कोमल शोभा-तम से मोहित!
स्वप्नों से गुंफित यमुना जल
गाढ़ नीलतम हुआ तरंगित,
साँस लेते में फूलों के रँग
सौरभ की कबरी में दोलित!

कांचन सी तप ज्वलित कामना
ढली सघन जघनों में दीपित,
बनी कठोर कुसुम कोमलता
श्रोणि भार में हो चिर पुंजित!
बाहु लताएँ फूल पाश बन
पुलकों में हो उठीं पल्लवित,
कोमल करतल, चंचल पदतल
जीवन के जावक से रंजित!

रूप शिखा की श्री सुषमा से
हुए गेह आँगन आलोकित,
वातायन में उदित कला शशि
गृह गृह के गवाक्ष चिर शोभित!
कलि कुसुमों ने भूतल को रँग
किया शोभना के हित सज्जित,
उर की साँसों में बहने को
बना समीर गंधवह सुरभित!
ज्योत्स्ना सकुची उषा लजाई,
रही तारिकाएँ ज्यों विस्मित,
स्रोत बहे, सरसी लहराई,
निखिल प्रकृति-श्री हुई प्रभावित!

हृदयासन पर बिठा प्रेम ने
किया अमर स्वप्नों से पूजन ;
सभा स्वर्ग ने स्वर्ण घटों में
स्वीकृत किया मर्त्य सुख बंधन !

दो टुकड़ों में सिमट नीलिमा
रही मौन नयनों में अपलक,
लजा अधर नव प्रणय वचन से
गए लालिमा से दुहरे रँग !
खिलती कलियों ने मार्दव भर,
कोकिल ने दे गीत रुचित स्वर,
मोहक उसे किया ज्योत्स्ना ने
गोपन लज्जा में वेष्टित कर !

मधु ने फूल जवाल से आवृत,
किया शरद ने लेखा मुख स्मित,
मणि मुक्तामय खनि सागर ने,
भू ने स्वर्ण रजत से झंकृत !
जगा हृदय में प्रीति दर्प नव
शत शत नयनों से हो लक्षित,
हाव भाव में मधुर संयमन
शोभा तन सज्जा से संवृत !

तड़ित् गर्भ, सुरधनु कबरी घन
ज्यों कृतार्थ होता भू पर झर,
मधुर अप्सरा बनी जनी अब
कुल प्रदीप से ज्योतित कर घर !
मातृ स्नेह बरसा नव शिशु पर
मुग्ध प्रणयिनी हुई निछावर,
सहधर्मिणी बनी वह प्रिय की
सुख दुख की मंत्री, चिर सहचर !

भूल गया ज्यों प्रणय कलह मन
गूँज उठे उर के अरसिक क्षण,
मूर्त पीठ पा मर्म स्पृहा ने
पुत्र स्नेह बन किया अवतरण !
रूप रंग का रच सम्मोहन
सृजन शक्ति ने बाँधे वे मन,
पलकों में शर, पुलक में तड़ित्
अधरों में धर मदिरा मादन !

अब शिशु के अनुपम आनन में
अतुल स्वर्ग का भर आकर्षण,
परंपरा में गूंथ अमर ज्यों
बना दिया उसने भंगुर तन!

नहीं गणित से रे परिचालित
मानव जीवन का विकास क्रम,
विजय पराभव संधि क्रांति का
स्रवण शील मानव मन संगम!
मरती रहती वाह्य चेतना
आत्मा फिर फिर जयती नूतन,
छोड़ जीर्ण केंचुल, नव सर्पित
होता उरग मनुज का जीवन!

(वार्धक्य)

शेष पथ : श्वसित शिशिर की वात,
शिला शीतल प्राणों का ताप,
झिर रहे पीले जीवन पात
विरस क्षण, सिसक, खिसक चुपचाप!

अस्थि पंजर अब जग की डाल
मर रहीं हिल हिल ठंडी साँस!
कुहासे में स्मृति के आवृत
विगत यौवन के चल मधुमास!
भूल फूलों के आलिंगन,
वात हत लतिका भू लुंठित,
न अब वह गुंजित तरु जीवन,
न जीवन संगिनि ही परिचित!
न वह मधु रस, न रंग गुंजार,
धूलि धूसर गंभीर दिगंत,
फूल फल, रच भव स्वप्न असार,
बीज में लय फिर हुआ अनंत!

दृगों में हँसते जीवन अश्रु,
कमल में ज्यों हिमजल थर् थर्,
शांत नीरव आत्मिक संतोष
गया भव क्लांत हृदय में भर!

रूप रंगों की मांसल देह
तीलियों की अब त्वक् पिंजर,
गूढ़ निःशब्द शिरा में लीन
मुखर खग के अंतर्मुख स्वर!

चल रहा झुक लाठी पर आज
वृद्ध, जीवन के प्रति साभार,
छोड़ चेतन जड़ का अवलंब,
करेगा मृत्यु द्वार फिर पार!
अकेला वह विशिष्ट रे पांथ,
न पथ के संग यात्रा का अंत,
विश्व में रिक्त व्यक्ति का स्थान
नहीं भर सकता स्वयं अनंत!
मारता वह विनोद से आँख
देख नव युवति युवक को साथ,
झुर्रियाँ हँसतीं नीरद हास
फूलता पेट, झूलता माँस!

पक्व जीवन का फल वह पूर्ण
तृप्त उर, चर्म रंध्र चरितार्थ,
खींच सकते न देह मन प्राण
विश्व प्राणों से सार पदार्थ!

व्यग्र रे अमृत अनिल में आज
व्याप्त होने को ज्यों क्षण श्वास,
विकल उड़ने को खग, पर खोल,
छोड़ भस्मांत देह तरु-वास!
पितामह : पलित कांस के केश,
पुत्र, प्रिय पौत्रों का अब घर,
वधू अंचल में नव शिशु देख
सोचता कुछ तटस्थ अंतर!

क्या है मृत्यु? गहन अंतर में
उठता रह रह प्रश्न भयानक,
शेष यहीं हो जाएगा क्या
जीवन का करुणांत कथानक!
खुलते हैं स्मृति के पट पर पट
विगत दृश्य होते क्षण गोचर,
स्वप्न चित्र-से वर्ष आयु के
उड़ते धूमयोनि-से नभ पर!

अह, तृष्णा के वाष्पों की क्या
माया यह भंगुर जग जीवन ?
सोया काल दिशा शय्या पर
स्वप्न देखता या क्या क्षण क्षण !
देह निधन का द्वार पार कर
आत्मा कहाँ करेगी विचरण ?
क्या जीवन की गोपन तृष्णा
केवल जन्म मरण का कारण ?

आत्म मुक्ति के लिए क्या अमित
यह ग्रह ग्रथित रंग भव सर्जित !
प्रकृति इंद्रियों का दे वैभव
मानव तप कर मुक्त बने नित !
नहीं संत कुल हुआ संत रे
जीव प्रकृति के सब जन निश्चित,
लोक मुक्ति है ध्येय प्रकृति का
मनुज करे जग जीवन निर्मित !

तन से ही कर नव तन धारण
अमर चेतना करती सर्जन,
चेतन की भव मुक्ति के लिए
वाहन जड़ तन, मात्र न बंधन !
मुक्त सृजन आनंद को स्वतः
रूपों का नव बंधन स्वीकृत,
आत्मा जीर्ण वसन तज रज का
नव वसनों में होती भूषित !

आंशिक उसे लगा जीवन का
जड़ चेतन का बौद्धिक दर्शन,
जड़ चेतन से परे अगोचर
जीवन के हैं मूल सनातन !
अन्न प्राण मन आत्मा केवल
ज्ञान भेद हैं सत्य के परम
इन सब में चिर व्याप्त ईश रे
मुक्त सच्चिदानंद चिरंतन !

आज समस्त विश्व मंदिर सा
लगता एक अखंड चिरंतन,
सुख दुख जन्म मरण नीराजन
करते, कहीं नहीं परिवर्तन !